तृतीय संस्करण :

मुद्रक :—केशव प्रसाद खत्री,
इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, प्रयाग।

लेखिका

रेखाकार, शम्भु
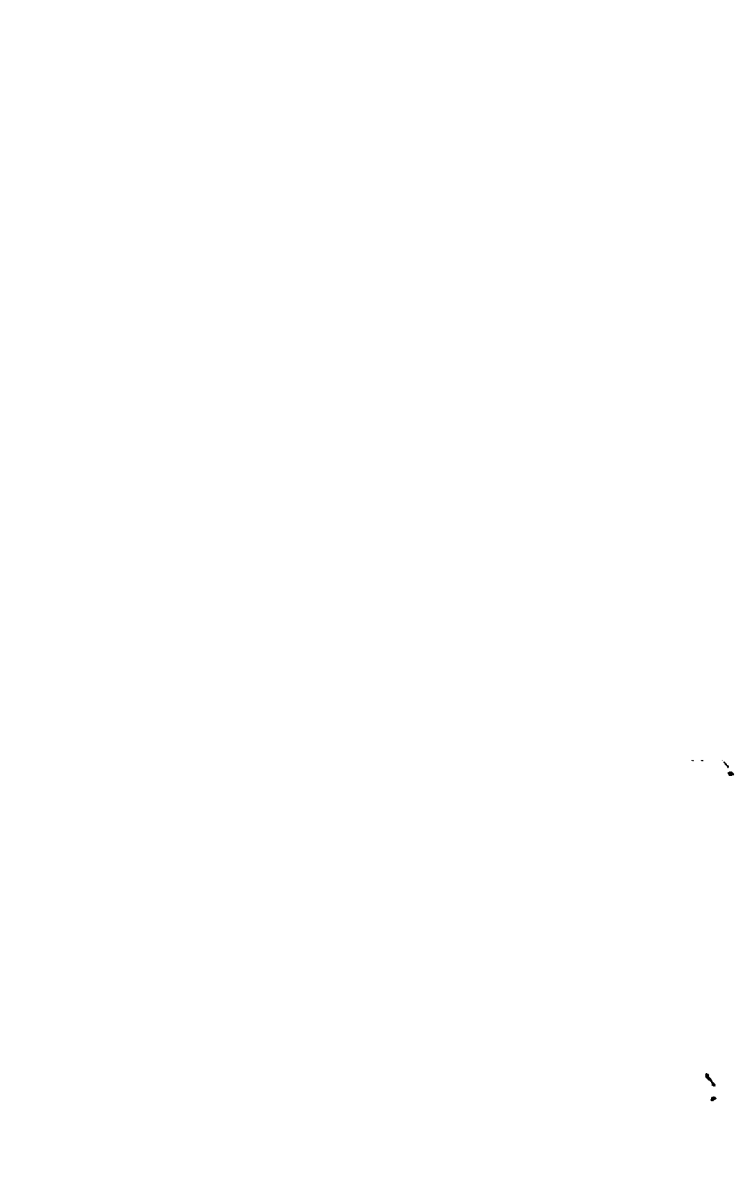
प्रकाशक का वक्तव्य

बुंदेलखंड में ओरछा राज्य प्राचीन काल से हिन्दी साहित्य और कवियों का सम्मान करता आ रहा है। इस क्रम को वर्तमान नरेश सवाई महेन्द्र सर वीरसिंह जी देव ने अक्षुण्ण रक्खा है और संवत् १६६० वि० से प्रतिवर्ष किसी हिन्दी कवि के सम्मानार्थ २०००) का पुरस्कार देते आ रहे हैं। संवत् १६६४ में प्रतियोगिता के लिए आये हुए ग्रन्थों में से कोई रचना पुरस्कार योग्य नहीं समझी गई और इस कारण पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् ने इस निधि में से १०००) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को 'देव पुरस्कार ग्रंथावली' के नाम से एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने के लिए प्रदान किया। इस दान के लिये सम्मेलन श्रीमान् ओरछा-नरेश तथा पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति का कृतज्ञ है।

सम्मेलन की साहित्य समिति ने यह निश्चय किया है कि इस ग्रंथावली में आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित किए जायँ। इस माला की विशेषता यह होगी कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चयन करेगा और स्वयं ही अपनी कविता का दृष्टिकोण पाठकों के सामने उपस्थित करेगा। प्रत्येक संग्रह के साथ कवि की हस्तलिपि का नमूना और उसकी प्रतिकृति का पेंसिल-स्केच भी रहेगा। इस प्रकार, आशा है, यह संग्रह अद्वितीय सिद्ध होगा और समस्त हिन्दी-प्रेमी जनता को राष्ट्रभाषा की नवीन काव्य-रचना की प्रगति को समझने और अध्ययन करने में सुविधा प्राप्त होगी।

प्रस्तुत संग्रह इस माला का प्रथम पुष्प है। श्रीमती महादेवी वर्मा जी का हिन्दी के कलाकारों में प्रमुख स्थान है। उनको जितना अधिकार लेखनी पर है उतना ही तूलिका पर भी है। छायावाद के गिने चुने कवियों में उनकी गिनती है। उनके काव्य का स्वयं व्यक्तित्व है। हमें विश्वास है कि पाठकों को इस संग्रह द्वारा कवयित्री के काव्य का व्यक्तित्व और मर्म समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

साहित्य-मंत्री

अपने दृष्टिकोण से

मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का संघातविशेष माना जावे और चाहे किसी व्यापक चेतना का अंशभूत परन्तु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें। जड़ द्रव्य से अन्य पशु तथा वनस्पति जगत के समान ही उसका शरीर निर्मित और विकसित होता है अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी स्थिति बाह्य जगत में ही रहेगी और प्राणिशास्त्र के सामान्य नियमों से संचालित होगी। यह सत्य है कि प्रकृति में जीवन के जितने रूप देखे जाते हैं मनुष्य उनमें इतना विशिष्ट जान पड़ता है कि सृजन की स्थूल समष्टि में भी उसका निश्चित स्थान खोज लेना कठिन हो जाता है, परन्तु इस कठिनाई के मूल में तत्वतः कोई अन्तर न होकर विकास-क्रम में मनुष्य का अन्यतम और अन्तिम होना ही है।

यदि सबके लिए सामान्य यह बाह्य संसार ही उसके जीवन को पूर्ण कर देता तो शेष प्राणिजगत के समान वह बहुत सी जटिल समस्याओं से बच जाता। परन्तु ऐसा हो नहीं सका। उसके शरीर में जैसा भौतिक जगत का चरम विकास है उसकी चेतना भी उसी प्रकार प्राणिजगत की चेतना का उत्कृष्टतम रूप है।

मनुष्य का निरन्तर परिष्कृत होता चलनेवाला यह मानसिक जगत वस्तुजगत के संघर्ष से प्रभावित होता है, उसके संकेतों में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है परन्तु उसके बन्धनों को पूर्णता में स्वीकार नहीं करना चाहता। अतः जो कुछ प्रत्यक्ष है केवल उतना ही मनुष्य नहीं कहा जा सकता—उसके साथ साथ उसका जितना विस्तृत और गतिशील अप्रत्यक्ष जीवन है उसे भी समझना होगा, प्रत्यक्ष जगत में उसका भी मूल्यांकन

करना होगा, अन्यथा मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा सारा ज्ञान अपूर्ण और शंकाएँ और समाधान अधूरे रहेंगे।

मनुष्य के इस दोहरे जीवन के समान ही उसके निकट बाह्य जगत की सब वस्तुओं का उपयोग भी दोहरा है। ओस की बूँदों से जड़े गुलाब के दल जब हमारे हृदय में सुप्त एक अव्यक्त सौन्दर्य और सुख की भावना को जाग्रत कर देते हैं, उनकी क्षणिक सुषमा हमारे मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री देती है तब हमारे निकट उनका जो उपयोग है वह उस समय के उपयोग से सर्वथा भिन्न होगा जब हम उन्हें मिश्री में गलाकर और गुलकन्द नाम देकर औषधि के रूप में ग्रहण करते हैं। समय, आवश्यकता और वस्तु के अनुसार इस दोहरे उपयोग की मात्रा तथा तज्जनित रूप कभी कभी इतने भिन्न हो जाते हैं कि हमारा अन्तर्जगत बहिर्जगत का पूरक होकर भी उसका विरोधी जान पड़ता है और हमारा बाह्य जीवन मानसिक से संचालित होकर भी उसके सर्वथा विपरीत।

मनुष्य के अन्तर्जगत का विकास उसके मस्तिष्क और हृदय का संस्कृत होते जाना है, परन्तु इस परिष्कार का क्रम इतना जटिल होता है कि वह निश्चित रूप से केवल बुद्धि या केवल भावना का सूत्र पकड़ने में असमर्थ ही रहता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में बुद्धि या भावतत्त्व की प्रधानता ही हमारी इस धारणा का आधार बन सकती है कि हमारे मस्तिष्क का अधिक परिष्कार विज्ञान में हो सका है और हृदय का जीवन में। एक

हमारे चिन्तन में बाधक होकर। दार्शनिक में हम बुद्धिवृत्ति का ऐसा ही ऐकान्तिक विकास पाते हैं जो उसे जैसे जैसे संसार के अव्यक्त सत्य की गहराई तक बढ़ाता चलता है वैसे वैसे उसके व्यक्त रूप के प्रति वीत-राग करता जाता है। वैज्ञानिक के निरन्तर अन्वेषण के मूल में भी यही वृत्ति मिलेगी; अन्तर केवल इतना ही है कि उसके चिन्तनमय मनन का विषय सृष्टि के व्यक्त विविध रूपों की उलझन है, उन रूपों में छिपा हुआ अव्यक्त सूक्ष्म नहीं। अपनी अपनी खोज में दोनों ही वीतराग हैं क्योंकि न दार्शनिक अव्यक्त सत्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा पाता है और न वैज्ञानिक व्यक्त जड़द्रव्य के विविध रूपों में रागात्मक स्पर्श का अनुभव करता है। एक व्यक्त के रहस्य की गहराई तक पहुँचना चाहता है, दूसरा उसीके प्रत्यक्ष विस्तार की सीमा तक; परन्तु दोनों ही दिशाओं में बुद्धि से अनुशासित हृदय को मौन रहना पड़ता है इसीसे दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन का वह सम्पूर्ण चित्र जो मनुष्य और शेष सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध से अनुप्राणित है नहीं दे सकते।

मनुष्य के ज्ञान की कुछ शाखायें दर्शन, विज्ञान आदि के समान अपनी दिशा में व्यापक न रह कर जीवन के किसी अंश विशेष से सम्बन्ध रखती हैं; अतः जहाँ वे आगे बढ़ते हैं वहाँ ये जीवन की परिवर्तित परिस्थि-तियों के साथ परिवर्तित हो हो कर अपनी तात्कालिक नवीनता में ही विकसित कहलाती हैं।

मनुष्य एक ओर अपने मानसिक जगत की दुरूहता को स्पष्ट करता चलता है, दूसरी ओर अपने बाह्य संसार की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। उसके समाजशास्त्र, राजनीति आदि उसकी बाह्य स्थिति की व्याख्या हैं, उसका विज्ञान प्रकृति के मूलतत्त्वों से उसके संघर्ष का इतिहास है, उसका दर्शन उसके तथा सृष्टि के रहस्यमय जीवन का बौद्धिक निरूपण है और उसका साहित्य उसके उस समग्र जीवन का सजीव चित्र है जो राजनीति से शासित, समाजशास्त्र से

नियमित, विज्ञान से विकसित तथा दर्शन से व्यापक हो चुका है।

साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती हैं जैसे धूपछाहीं वस्त्र में दो रंगों के तार जो अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है और न बाह्य क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं।

मनुष्य के बाह्य जीवन में जो कुछ ध्वंस और निर्माण हुआ है, उसकी शक्ति और दुर्बलता की जो परीक्षाएँ हुई हैं, जीवनसंघर्ष में उसे जितनी हार-जीत मिली है केवल उसीका ऐतिहासिक विवरण दे देना साहित्य का लक्ष्य नहीं। उसे यह भी खोजना पड़ता है कि इस ध्वंस के पीछे कितनी विरोधी मनोवृत्तियाँ काम कर रही थीं, निर्माण मनुष्य की किस सृजनात्मक प्रेरणा का परिणाम था, उसकी शक्ति के पीछे कौन सा आत्मबल सहारा था, दुर्बलता उसके किस अभाव से प्रसूत थी, हार उसकी किस निराशा की संगी थी और जीत में उसकी कौन सी कल्पना साकार हो सकी।

साहित्य की विस्तृत रंगशाला में हम कविता को कौन सा स्थान दें यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है। वास्तव में जीवन में कविता का वही महत्त्व है जो कठोर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमण्डल से मिला देनेवाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह अकाश-खण्ड को अपने भीतर बन्दी कर लेने के लिए अपनी परिधि में नहीं बाँधता प्रत्युत हमें उस सीमारेखा पर खड़े होकर क्षितिज तक दृष्टिप्रसार की सुविधा देने के लिए; उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु न उनमें सामञ्जस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामञ्जस्य पर स्थित है।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्कवितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले अतीतभूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है वह परिमाण में कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्यायें लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशायें खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूलतत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के, कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध हैं जिसके तत्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।

अतीत युगों के जितने संचित ज्ञानकोष के हम अधिकारी हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव ज्ञान की अन्य शाखाओं

न आ जावे। और यह संवेदनीयता भावपक्ष ही में अक्षय है। विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने तो मानो हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेषकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की संज्ञा पाती आ रही है।

यह भावधारा मूलतः नवीन नहीं है क्योंकि इसका कहीं प्रकट और कहीं छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमान्त रेखा तक पाते हैं। कारण स्पष्ट है। किसी भी जाति की विचारसरणि, भावपद्धति, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं। परन्तु संस्कृति को कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है क्योंकि न वह किसी जाति की राजनैतिक व्यवस्था मात्र होती है और न केवल सामाजिक चेतना; न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास। देशविशेष के जलवायु में विकसित किसी जाति-विशेष के अन्तर्जगत और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगों में भी अस्पष्ट और सीमा में भी असीम है वैसे ही जैसे हमारे आँगन का आकाश। यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है परन्तु मूलतत्वों का बदल जाना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारों ओर से घेरे रहनेवाला वह विशिष्ट वायुमण्डल ही न हटा लिया जावे।

जहाँ तक इतिहास की किरणें नहीं पहुँच पातीं उसी सुदूर अतीत में जो जाति इस देश में आकर बस गई थी जहाँ न बर्फ़ के तूफ़ान आते थे न रेत के बवंडर, न आकाश निरन्तर ज्वाला बरसाता रहता था और न अविराम रोता, न तिल भर भूमि और पल भर के जीवन के लिए मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष होता था न हार, उस जाति की संस्कृति अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखती है। सुजला सफला शस्य-

भी अस्वीकृत कर दिये ।

यह क्रम प्रत्येक युग के परिवर्तन में कुछ नये उलट फेर के साथ आता रहा है इसीसे आधुनिक काल के साथ भी इसे जानने की आवश्यकता रहेगी ।

कविता के जीवन में भी स्थूल जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौन्दर्य्य की भावना, उसका चिन्तन में अत्यधिक प्रसार और अन्त में निर्जीव अनुकृतियाँ आदि क्रम मिलते ही रहे हैं । इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, हमारा उस युग से काव्यसाहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा जिसकी धारा वीरगाथाकालीन इतिवृत्त के विषम शिलाखण्डों में से फूटकर, निर्गुण सगुण भावनाओं की उर्वर भूमि में प्रशान्त, निर्मल और मधुर होती हुई रीतिकालीन रूढ़िवाद के क्षार जल में मिलकर गतिहीन हो गई ।

परिवर्तन का वही क्रम हमारे आधुनिक काव्यसाहित्य को भी नई रूपरेखाओं में बाँधता चल रहा है या नहीं, यह कहना अभी सामयिक न होगा । रीतिकालीन रूढ़िवाद से थके हुए कवियों ने जब सामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रचार की सुविधा समझ कर, ब्रजभाषा का अधिकार खड़ीबोली को सौंप दिया तब साधारणतः लोग निराश ही हुए । भाषा लचीलेपन से मुक्त थी, ब्रजमाधुर्य्य के अभ्यस्त कानों को ध्वनि में कर्कशता जान पड़ती थी और उक्तियों में चमत्कार न मिलता था । इसके साथ साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी । अतः उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनायें विद्रोह कर उठीं । इसमें सन्देह नहीं कि उस समय की अधिकांश रचनाओं में, भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मतारहित होने पर भी सात्विक, छन्द नवीनताशून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और संस्कृत मिलते हैं । पर स्थूल सौन्दर्य्य

की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बँधे स्थूल का, न तो यथार्थ-चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूपरेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्य्यानुभूति की आवश्यकता थी जो छायावाद में पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छन्दबन्धों में सूक्ष्म सौन्दर्य्यानुभूति को जो रूप देना चाहा वह खड़ीबोली की सात्विक कठोरता नहीं सह सकता था अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काटछाँट कर तथा कुछ नये गढ़ कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया। इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य्य पर चेतनता का आरोप भी; परन्तु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण वे कहीं सौन्दर्य्यानुभूति की व्यापकता, कहीं संवेदन की गहराई, कहीं कल्पना के सूक्ष्म रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दे सकी हैं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बंगाल की नवीन काव्य-धारा से परिचित तो था ही साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।

जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञानक्षेत्र में एक सिद्धान्त मात्र थी वही हृदय की कोमलतम भावनाओं में प्राणप्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफ़ी सन्तों के प्रेम में अतिरंजित होकर ऐसे कलात्मक रूप में अवतीर्ण हुई जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनों को सन्तुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधना रूपी सम-विषम शिलाओं से बँधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेमविरह की कोमलतम अनुभूतियों की वेला में उन्मुक्त यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है यह अभी कहना कठिन होगा। इतना निश्चित है कि

इस वस्तुवादप्रधान युग में भी वह अनादृत नहीं हुआ चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपकों में सुन्दरतम अभिव्यक्ति।

इस बुद्धिवाद के युग में मनुष्य भावपक्ष की सहायता से, अपने जीवन को कसने के लिए कोमल कसौटियाँ क्यों प्रस्तुत करे, भावना की साकारता के लिए अध्यात्म की पीठिका क्यों खोजता फिरे और फिर परोक्ष अध्यात्म को प्रत्यक्ष जगत में क्यों प्रतिष्ठित करे यह सभी प्रश्न सामयिक हैं। पर इनका उत्तर केवल बुद्धि से दिया जा सकेगा ऐसा सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि बुद्धि का प्रत्येक समाधान अपने साथ प्रश्नों की एक बड़ी संख्या उत्पन्न कर लेता है।

साधारणतः अन्य व्यक्तियों के समान ही कवि की स्थिति भी प्रत्यक्ष जगत की व्यष्टि और समष्टि दोनों ही में है। एक में वह अपनी इकाई में पूर्ण है और दूसरी में वह अपनी इकाई से बाह्य जगत की इकाई को पूर्ण करता है। उसके अन्तर्जगत का विकास ऐसा होना आवश्यक है जो उसके व्यष्टिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ समष्टिगत जीवन के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित कर दे। मनुष्य के पास इसके लिए केवल दो ही उपाय हैं, बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार। परन्तु केवल बौद्धिक निरूपण जीवन के मूल तत्त्वों की व्याख्या कर सकता है, उनका परिष्कार नहीं जो जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए अपेक्षित है और केवल भावना जीवन को गति दे सकती है दिशा नहीं।

भावातिरेक को हम अपनी क्रियाशीलता का एक विशिष्ट रूपान्तर मान सकते हैं जो एक ही क्षण में हमारे सम्पूर्ण अन्तर्जगत को स्पर्श कर बाह्य जगत में अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठता है; पर बुद्धि के दिशानिर्देश के अभाव में इस भावप्रवेग के लिए अपनी व्यापकता की सीमायें खोज लेना कठिन हो जाता है अतः दोनों का उचित मात्रा में सन्तुलन ही अपेक्षित रहेगा।

कवि ही नहीं प्रत्येक कलाकार को अपने व्यष्टिगत जीवन की गहराई और समष्टिगत चेतना को विस्तार देनेवाली अनुभूतियों को भावना के साँचे में ढालना पड़ा है। हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिर संवेदनरूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने होंगे ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि केवल वही आध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष-रूप-भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्वबन्धुता, मानवधर्म आदि के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों को हम अध्यात्म की संज्ञा देते हैं तो उस रूप में काव्य में उसका महत्त्व नहीं रहता। इस कथन में अध्यात्म को बलात् लोकसंग्रही रूप देने का या उसकी ऐकान्तिक अनुभूति अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐकान्तिक रूप में भी सफल है परन्तु इस अरूपरूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो सम्भव हो सकेगी।

जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकान्तिक रही हो परन्तु उनकी मिलन विरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी अभिव्यञ्जना क्या किसी लोकोत्तर लोक से रूपक लाई थी? हम चाहे आध्यात्मिक संकेतों से अपरिचित हों परन्तु उनकी लौकिक कलारूप सप्राणता से हमारा पूर्ण परिचय है। कबीर की ऐकान्तिक रहस्यानुभूति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

वास्तव में लोक के विविध रूपों की एकता पर स्थित अनुभूतियाँ

लोक विरोधिनी नहीं होतीं; परन्तु ऐकान्तिक रूप के कारण अपनी व्यापकता के लिए वे व्यक्ति की कलात्मक संवेदनीयता पर अधिक आश्रित हैं। यदि यह अनुभूतियाँ हमारे ज्ञानक्षेत्र में कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में परिवर्तित न हो जावें, अध्यात्म की सूक्ष्म से स्थूल होती चलनेवाली पृष्ठभूमि पर धारणाओं की रूढ़ि मात्र न बन जावें तो भावपक्ष में प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनों को एक परिष्कृत और अभिनव रूप देती हैं।

हमारी अन्तःशक्ति भी एक रहस्य से पूर्ण है और बाह्यजगत का विकास-क्रम भी, अतः जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते रहते हैं जिनमें हम इस रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। इस रहस्य का आभास या अनुभूति मनुष्य के लिए स्वाभाविक रही है अन्यथा हम सभी देशों के समृद्ध काव्य-साहित्य में किसी न किसी रूप में इस रहस्यभावना का परिचय न पाते। वही काव्य हेय है जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत पर आश्रित है और न वही जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव में दोनों ही मनुष्य के मानसिक जगत की मूर्त और बाह्य जगत की अमूर्त्त भावनाओं की कलात्मक समष्टि हैं। जब कोई कविता काव्यकला की सर्वमान्य कसौटी पर नहीं कसी जा सकती तब उसका कारण विषयविशेष न होकर कवि की असमर्थता ही रहती है।

पिछले छायापथ को पार कर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है उसने अस्पष्टता आदि परिचित विशेषणों में, सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोड़ कर छायावाद को अतीत और वर्तमान से सम्बन्धहीन एक आकस्मिक आकाशचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपों की अभी जीवन में परीक्षा नहीं हो सकी है अतः यह हमारे मानसिक जगत में ही विशेष मूल्य रखते हैं।

कितने दीर्घकाल से वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य्य का हमारे ऊपर

कैसा अधिकार रहा है यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौन्दर्य्य का लेश भी नहीं मिलता था वह उसीके प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल, भक्ति की सात्विकता में भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह हमारे कृष्णकाव्य का शृंगार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ीबोली का सौन्दर्यहीन इतिवृत्ति उसे हिला भी न सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राणप्रवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य को असंख्य रंग रूपों में अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस धारा को, जो प्रगतिवाद की विषम भूमि में भी अपना स्थान ढूँढ़ती रहती है, मोड़ना कब सम्भव होता यह कहना कठिन है। मनुष्य की वासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य्य को उसके समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करनेवाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।

फिर मेरे विचार में तो सूक्ष्म के सम्बन्ध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण में अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका; परन्तु उसकी सौन्दर्य्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न, सूक्ष्म सौन्दर्य्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं जो आज की वस्तु है। परन्तु उसने अपने क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुन्दर और सजीव चित्रशाला में हमारी दृष्टि को दौड़ा दौड़ा कर ही उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखाया। इसीसे छायावाद के सौन्दर्य्य-द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुँच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौन्दर्य्य-सत्ता के प्रति नितान्त उदा-

सीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमें निर्माण के परमाणु नहीं पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमें अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौन्दर्य्य-दृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियों के चित्रों की निष्क्रियता में मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओं के रूप भी छायायुग की छाया में निखरे ही। राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखे गए जय-पराजय के गान स्थूल के धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं इसमें सन्देह है। सामाजिक आधार पर 'वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी' तपःपूत वैधव्य का जो चित्र है वह अपनी दिव्य लौकिकता में अकेला है।

सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपकों में इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह में युगों से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देनेवाले गीत सहज ही बह गए। जीवन और कला के क्षेत्र में इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है वह उपेक्षा के योग्य नहीं। पर अन्य युगों के समान इस युग में भी कुछ निर्जीव अनुकृतियाँ तो रहेंगी ही।

जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक सन्तुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्मगत रूढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है वह तो केवल विधिनिषेधमय सिद्धान्तों का संग्रह है जो अपने प्रयोग रूप को खोकर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करें तो हमें जीवन के ध्वंस में लगे हुए विज्ञान के स्थूल को भी अस्वीकार कर देना चाहिए।

अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परन्तु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव, वानर या वनमानुस की पंक्ति में न खड़ा होकर सृष्टि में सुन्दरतम ही नहीं शक्ति और बुद्धि में श्रेष्ठतम मानव के भी कन्धे से कन्धा मिला कर उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तन्तु ढूँढ़कर हम उन रूपों में सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म्म का रूढ़िगत सूक्ष्म न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिकवाद द्वारा जीवन में वही विकृत उत्पन्न कर देगा जो अध्यात्मपरम्परा ने की थी।

छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तो का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसीसे उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धान्त एक के होकर सब के हो सकते हैं, अतः हम उन्हें अपने चिन्तन में ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पृथक् ऐकान्तिक विकास पाते रहने को स्वतन्त्र हैं। परन्तु इन सिद्धान्तों से मुक्त जो सत्य है उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही सम्भव है और उस दशा में वह प्रायः हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसीसे स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करने वाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गाँधी भी।

हमारा कवि भावित और अनुभूत सत्य की परिधि लाँघ कर न

जाने कितने अर्धपरीक्षित और अपरीक्षित सिद्धान्त बटोर लाया है और उनके मापदण्ड से उसे नापना चाहता है जिसका मापदण्ड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अतः आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा खोटापन कसने की कोई कसौटी नहीं है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा यह निर्विवाद है परन्तु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है इस प्रश्न के कई उत्तर हैं।

वास्तव में जीवन के साथ इस दृष्टिकोण का वही सम्बन्ध है जो शरीर के साथ शरीर-विज्ञान का। एक शरीर के खण्ड खण्ड कर उसके सम्बन्ध में सारा ज्ञातव्य जानकर भी उसके प्रति वीतराग रहता है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हमें उसके प्रति अनुरक्ति नहीं देता। इस प्रकार यह बुद्धिप्रसूत चिन्तन में ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पड़ता है जिसके द्वारा वह जीवन के सुन्दर और कुत्सित को अपनी संवेदना में रंग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नहीं; और यदि देता भी है तो वे एक एक मांसपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते हैं जिसका उपयोग केवल शरीर-विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रंग चढ़ाये यथार्थ का चित्र दे परन्तु इस यथार्थ का कला में स्थान नहीं, क्योंकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान और साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और तब दो चार टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं और दो एक रंग के धब्बों से ही दो क्षण में अपना चित्र समाप्त कर देगा, परन्तु साधारण एक एक रेखा को उचित स्थान पर बैठा बैठा कर उस

वस्तु को ज्यो का त्यों काग़ज़ पर उतारने में सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है परन्तु वह हमारे हृदय को छू न सकेगा। छू तो वही अधूरा सकना है जिसमें चित्रकार ने रेखा रेखा न मिला कर आत्मा मिलाई है। कवि की रचना भी ऐसे क्षण में होती है जिसमें वह जीवित ही नहीं अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से वस्तुविशेष के साथ जीवित रहता है, इसीसे उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई में भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति में भी मार्मिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के निम्नतम स्तर से भी काव्य के उपादान ला सकता है, परन्तु वे उसीके होकर सफल अभिव्यक्ति करेंगे और उसके रागात्मक दृष्टिकोण से ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रंगीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में यह एक न एक समय आता ही रहता है। विशेष रूप से यह तारुण्य का द्योतक है जो चाँदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढक देता है। जब हम पहले पहले जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं तब हम अपनी दृष्टि की रंगमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरों को रंगीन और साँस की सुरभि से ही काँटों को सुवासित करते चलते हैं। परन्तु जैसे जैसे संघर्ष से हमारे स्वप्न टूटते जाते हैं कल्पना के पंख झड़ते जाते हैं वैसे वैसे हमारे दृष्टिकोण की रंगीनी फीकी पड़ती जाती है और अन्त में पलित केशों के साथ इसके भी रंग धुल जाते हैं। यह उस वार्धक्य का सूचक है जिसमें हमें जीवन से न कुछ पाने की आशा रहती है और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है उसीका हिसाब बुद्धि करती रहती है। जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में यह वार्धक्य सम्भव नहीं इसीसे आज न कवीन्द्र वृद्ध हैं न बापू। इनमें जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं किन्तु वह एक सृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः

बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखण्ड रूप की भावना नहीं कर सकता और दूसरी ओर चिन्तन में ऐकान्तिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते है जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भूखण्ड के सम्बन्ध में सब ज्ञातव्य जान कर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आँक सकेंगे और वर्ग उपवर्गों में विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर उसके सम्बन्ध में बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे; परन्तु खण्ड खण्ड में व्याप्त एक विशाल राष्ट्रभावना और व्यष्टि व्यष्टि में व्याप्त एक विराट जनभावना हमें इस दृष्टिकोण से ही नहीं मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बाँट कर जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना जाग्रत करना सम्भव नहीं है, केवल शतरंज के मोहरों के समान व्यक्तियों को हटा बढ़ा कर जैसे जनभावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी वैसा ही दुस्तर कार्य है। इसीसे प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थ-द्रष्टा ही नहीं स्वप्न-स्रष्टा भी होना पड़ता है।

छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला; जीवन में नहीं, इसीसे वह अपूर्ण है; परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन की पूर्णता में देखना चाहेंगे तो हम भी असफल ही रहेंगे।

पलायनवृत्ति के सम्बन्ध में हमारी यह धारणा बन गई है कि वह जीवन-संग्राम में असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगों से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धितत्व, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकनेवाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है यह कथन कितना अपरीक्षित है इसका सबल प्रमाण हमारा

चिन्तनप्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर संघर्ष से निश्चेष्ट थी न किसी सर्वग्रासिनी हार से निर्जीव, न उसका घर धन- धान्य से शून्य था और न जीवन सुख-सन्तोष से, न उसके सामने सामाजिक विकृति थी और न सांस्कृतिक ध्वंस। परन्तु इन सुविधाओं से अति परिचय के कारण उसका तारुण्य, भौतिक को भूल कर चिन्तन के नवीन लोक में भटक गया और उपनिषदों में उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर से स्थूल की ओर लौटना पड़ा।

व्यक्ति के जीवन में भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के संघर्षों में पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नहीं किया, भौतिक सुखों के अति परिचय ने ही थका कर उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन में, पढ़ने से जी चुरानेवाले विद्यार्थी को जब हम खिलौनों से घेर कर छोड़ देते हैं तब कुछ दिनों के उपरान्त वह स्वयं पुस्तकों के लिये विकल हो जाता है। जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिड़ियों से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियों को भूल कर बिरहा या चैती गा उठता है तब उसमें खेत खलिहान की कथा न कह कर अपनी किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को राग-मय करती है तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्रवन में पड़े भूले की मार्मिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूर्ति कहें चाहे उससे पलायन की वृत्ति परन्तु वह परिभाषातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल में मध्यम वर्ग की ऐसी क्रान्ति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विषमताओं के प्रति हम सम्पूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जागृत भी नहीं हुए थे और हमारे

सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर असंतोष का इतना स्याह रंग भी नहीं चढ़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने एक सूक्ष्म भावजगत को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उन परिस्थितियों ने आज की निराशा के लिए धरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियों की कोमल भावनायें तो कारागार की कठोर भित्तियों से टकरा कर भी कर्कश नहीं हो सकीं, परन्तु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियों को जीवन संघर्ष में असमर्थ नहीं ठहरा सकेंगे।

छायावाद के आरम्भ में जो विकृति थी आज वह शतगुण हो गई है। उस समय की क्रान्ति की चिनगारी सहस्र-सहस्र लपटों में फैल कर हमारे जीवन को क्षार किये दे रही है। परन्तु आज भी तो हम अपने शान्त चिन्तन में बुद्धि से खराद खराद कर सिद्धांतों के मणि ही बना रहे हैं। हमारे सिद्धान्तों की चरणपीठ बन कर ही जो यथार्थ आ सका है उसे भी हमारे हृदय के बन्द द्वार से टकरा टकरा कर ही लौटना पड़ रहा है। वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ न स्वीकार करके एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसीसे जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष में पलायन सम्भव है, उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का चिन्तन में पलायन सहज है। और यदि विचार कर देखा जाय तो जीवन से केवल भावजगत में पलायन उतना हानिकर नहीं जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ क्षणों को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा सम्पूर्ण सक्रिय जीवन माँग लेता है।

यदि इन सब उलझनों को पार कर हम पिछले और आज के काव्य की एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करें तो हमें दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे।

जिस युग में कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेशप्रवण इतिवृत्त, उसी युग में उसने भावजगत और सूक्ष्म सौन्दर्य्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भाव-जगत के कोने कोने और सूक्ष्म सौन्दर्य्यगत चेतना के अणु अणु से परिचित हो चुका है, अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौन्दर्य्य दृष्टि और आज की यथार्थ-सृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें तो जीवन का सामञ्जस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे। परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि में निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध में गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

साधारणतः नवीन काव्यधारा ने अभी छायावाद की बाह्य रूपरेखा नहीं छोड़ी, केवल शब्दावली, छन्द, ध्वनि आदि में एक निरन्तर सतर्क शिथिलता लाकर उसे विशेषता मान लिया है। अपने प्रारम्भिक रूप में ही यह रचनाएँ पर्याप्त भिन्नता रखती हैं जिससे हम उनमें व्यक्त विभिन्न विचारधाराओं से सहज ही परिचित हो सकते हैं। इस काव्य की एक धारा ऐसी चिन्तनप्रधान रचनाओं को जन्म दे रही है जिनमें एक ओर विविध बौद्धिक निरूपणों के द्वारा कुछ प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता चलता है और दूसरी ओर पीड़ित मानवता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का व्यक्तीकरण। इन रचनाओं के मूल में वर्तमान व्यवस्थाओं की प्रतिक्रिया अवश्य है परन्तु वह मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों में उत्पन्न न होकर उसके ठंढे चिन्तन में जन्म और विकास पाती है, उसमें आवश्यक भावप्रवेग का नितान्त अभाव स्वाभाविक ही है।

दूसरी धारा में पिछले वर्षों के राष्ट्रीय गीतों की परम्परा ही कुछ

अतिशयोक्ति और उलटफेर के साथ व्यक्त हो रही है। ऐसी रचनाओं में कवि का अहंकार स्वानुभूत न होकर रूढ़ि मात्र बन गया है, इसीसे वह प्रलयंकर, महानाश की ज्वाला आदि रूपकों में व्यक्त क्षणिक उत्तेजना में फुलझड़ी के समान जलता बुझता रहता है। असंख्य निर्जीव आवृत्तियों के कारण यह शब्दावली अपना प्रभाव खो चुकी है; कवि जब तक सच्चाई के साथ इनमें अपने प्राण नहीं फूँक देता तब तक यह कविता के क्षेत्र में विशेष महत्त्व नहीं पातीं।

तीसरी काव्यधारा की रूपरेखा आदर्शवाद की विरोध-भावना से बनी है। उसमें एक ओर यथार्थ की छाया में वासना के वे नग्न चित्र हैं जो मूलतः हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखते हैं और दूसरी ओर जीवन के वे घृणित कुत्सित रूप जो हमारी समष्टिगत चेतना के अभाव से उत्पन्न हैं। एक में भावना की परिणति का अभाव है और दूसरे में संवेदनीय अनुभूति का, अतः यह कृतियाँ हमारे सामने केवल एक विचित्र चित्रशाला प्रस्तुत करती हैं। यथार्थ का काव्यगत चित्रण सहज होता है यह धारणा भ्रान्तिमूलक ही प्रमाणित होगी। वास्तव में यथार्थ के चितेरे को अपनी अनुभूतियों के हल्के से हल्के और गहरे से गहरे रंगों के प्रयोग में बहुत सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि उसका चित्र आदर्श के समान न अस्पष्ट होकर अग्राह्य हो सकता है और न व्यक्तिगत भावना में बहुरंगी। वह प्रकृत न होने पर विकृत के अनेक रूपरूपान्तरों में से किसी एक में प्रतिष्ठित होगा ही। यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है जहाँ से वह हमें जीवन के भिन्नवर्णी चित्र ही नहीं देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक संवेदन भी देती है। घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण संवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमलभावना की जाग्रति, यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है इसे जानने के लिए हम अपने नैतिकपतन के नग्न रूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं।

भविष्य में प्रगतिवाद की जो दिशा होगी उसकी कल्पना अभी समीचीन नहीं हो सकती। इतना स्पष्ट है कि यह श्रमिकों की वाणी में बोलने वाली कविता मध्यम वर्ग के कंठ से उत्पन्न हो रही है, अतः इसे समझने के लिए उसी वर्ग की पृष्ठभूमि चाहिए। हमारा जातीय इतिहास प्रमाणित कर देगा कि सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह वर्ग बदलती हुई परिस्थितियों से उच्चवर्ग की अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है। संख्या में हल्के और सुविधाओं में भारी उच्चवर्ग ने किसी भी संघर्ष में अपनी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। मध्ययुग में विजेताओं से कुछ समय तक संघर्ष कर तथा संख्या में कुछ घट कर जब उच्चवर्ग फिर पुरानी स्थिति में आ गया तब मध्यम वर्ग की समस्यायें ज्यों की त्यों थीं। उनमें से कुछ ने राजदरबारों में शृंगार और विलास के राग गाये, कुछ ने जीवन को भक्ति और ज्ञान की पूत धाराओं में निमज्जित कर डाला और कुछ फारसी पढ़ पढ़ कर मुंशी बनने लगे।

उसके उपरान्त फिर इसी इतिहास की आवृत्ति हुई। जब उच्चवर्ग नये पाश्चात्य शासकों की वरद छाया में अपने पुराने फीके जीवन पर नई सभ्यता का सुनहला पानी फेर रहा था तब मध्यम वर्ग में अधिकांश के जीवन में अंग्रेजी सीख कर केवल क्लर्क बनने की साधना वेगवती होती जा रही थी। इस साधना की सफलता ने उसे यन्त्रमात्र ही रहने दिया, पर तब भी उसकी यह धारणा न मिटी कि उसका और उसकी संतान का कल्याण केवल इसी दिशा में रक्षित है।

इस बीच में सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए नई प्रेरणा मिलने का कहीं अवकाश ही न था। पुरानी जीर्णशीर्ण व्यवस्थाओं के भीतर हमारा सामाजिक जीवन उत्तरोत्तर विकृत होने लगा। संस्कृति के नाम पर जो कुछ प्रचलित रूढ़ियाँ थीं वे जीवन में और कोई द्वार न पाकर धर्म्म और साहित्य में फैलने लगीं। इस पंक में कमल भी खिले अवश्य, परन्तु इससे जल की पंकिलता में अन्तर नहीं पड़ता।

ऐसे ही समय में भारतेन्दु-युग की कविता में बिखरे देशप्रेम को

हमारी राष्ट्रीय भावना में विकास पाने का अवसर मिला। साधारणतः जीवन की व्यष्टिगत चेतना के पश्चात् ही समष्टिगत राष्ट्रीय चेतना का उदय होना चाहिए। परन्तु साधन और समय के अभाव में हम इस चेतना का आवाहन केवल असुविधाओं के भौतिक धरातल पर ही कर सके, इसीसे शताब्दियों से निर्जीवप्राय जनसमूह सक्रिय चेतना लेकर पूर्ण रूप से अब तक न जाग सका।

मध्यवर्ग का इस जाग्रित में क्या स्थान है यह बताने की आवश्यकता नहीं परन्तु इसके उपरान्त भी उसकी स्थिति अनिश्चित और जटिलतर होती गई। हमारी राष्ट्रीय चेतना एक विशेष राजनैतिक ध्येय को लेकर जागृत हुई थी, अतः जीवन की उन अन्य व्यवस्थाओं की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं मिला जो जीवन की व्यष्टिगत चेतना से सम्बन्ध रखती थीं।

यह स्वाभाविक ही था कि जीवन की बाह्य व्यवस्था में विकास न होने के कारण हमारी सब प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर हमारे भावजगत को अत्यधिक समृद्ध कर देतीं। छायावाद और रहस्य-वाद के अन्तर्गत सूक्ष्मतम अनुभूतियों के कोमलतम मूर्त्त रूप, भावना के हल्के रंगों का वैचित्र्य, वेदना की गहरी रेखाओं की विविधता, करुणा का अतल गाम्भीर्य्य और सौन्दर्य्य का असीम विस्तार हमारी उपयुक्त धारणा का समर्थन कर देते हैं। परन्तु इन सौन्दर्य्य और भावना के पुजारियों को भी उसी निष्क्रिय संस्कृति और निष्प्राण सामाजिकता में मे ही अपना पथ खोजना पड़ा है। वे मध्य युग के सन्त नहीं हैं 'जो स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' कह कर बाह्य जीवन-जनित निराशा से बच जाते।

इनके साथ उस नवीन पीढ़ी का उल्लेख भी उचित होगा जो रूढ़ि-ग्रस्त मध्यवर्ग में पली और जीवन का अधिकांश जीवन को भुलाने में बिता कर संसार यात्रा के लिए केवल स्वप्न और भावुकता का सम्बल लिए हुए विद्यालयों से बाहर आई। जीवन की व्यवस्था में अपनी स्वप्न

सृष्टि का कोई स्थान न पाकर उसकी मानसिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ वह अनेकरूपी है। इनमें से कुछ के अनमिल स्वर हमें छायावाद की रागिनी में सुन पड़ते हैं और कुछ के प्रगतिवाद के शंख में। साम्य-वाद, समाजवाद, आदि विचारधाराओं से भी यह प्रवाह में पड़े हुए पत्थर हो रहे हैं।

इस प्रकार के सामूहिक असन्तोष और निराशा की पृष्ठभूमि पर जो प्रतिक्रियात्मक काव्य-रचना हो रही है वह बौद्धिक निरूपणों से बोझिल है। जिन व्यवस्थाओं में जीवन का उपयुक्त समाधान नहीं मिला उसकी कला-कसौटियों और काव्य के उपादानों पर उसे खीझ है। वास्तव में इस प्रगति के भीतर मध्यवर्ग की क्रान्ति ही गतिशील है। कवियों ने कुछ साम्यवाद के प्रतीकों के रूप में, कुछ ग्रामों की ओर लौटने की देशव्यापी पुकार से प्रभावित होकर और कुछ अपनी सहज संवेदना से, जिस पीड़ित, दलित और अपनी वेदना में मूर्च्छित वर्ग को काव्य का विषय बनाया है उसके जीवन में वे घुलमिल नहीं सके, इसीसे कहीं वह बु[illegible]
लिए मैदान बन जाता है, कहीं भावनाओं को टाँगने के [illegible]
काम देता है और कहीं निर्जीव चित्रों के लिए चेतना-हीन [illegible]
ही सफलता पाता है। अवश्य ही करुणा को भी रुला देने
के कुछ सजीव चित्रण हुए हैं परन्तु वे नियम के अपवाद जै[illegible]

इतिहास के क्रम में हमारी विचार-शृंखला की कड़ी [illegible]
प्रगतिवाद सदा ही रह सकता है पर काव्य में अपनी प्रति[illegible]
कला की रूपरेखा में बँधना ही पड़ेगा। छायावाद युग [illegible]
भूतियों की अभिव्यञ्जना-शैली चाहे उसके लिए उप[illegible]
कला के उस सहज, सरल और स्वाभाविक सौन्दर्[illegible]
सतर्क विरक्ति उचित नहीं जो जीवन के घृणित, कु[illegible]
हमारी ममता को जगा सकता है।

इसके अतिरिक्त विचारों के प्रसार और प्रचार के

साधनों से युक्त युग में, गद्य का उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चलनेवाला रूप रहते हुए, हमें अपने केवल बौद्धिक निरूपणों और वादविशेष सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए कविता की सहायता की आवश्यकता नहीं रही। चाणक्य की नीति वीणा पर गाई जा सकती है, परन्तु इस प्रकार वह न नीति की कोटि में आ सकती है और न गीत की सीमा में, इसे जानकर ही इस बुद्धिवादी युग को हम कुछ दे सकेंगे।

इस युग के कवि के सामने जो विषम परिस्थितियाँ हैं उन पर मैं रंग फेरना नहीं चाहती। आज संगठित जाति वीरगाथाकालीन युद्ध के लिए नहीं सज्जित हो रही है जो कवि चारणों के समान कड़खों से उसे उत्तेजित मात्र करके सफल हो सके, वह ऐश्वर्यराशि पर बैठी पराजय भुलाने के साधन नहीं ढूँढ रही है जो कवि विलास की मदिरा ढाल ढाल कर अपने आपको भूल सके और वह कठोर संघर्ष से क्षामकण्ठ भी नहीं है जो कवि अध्यात्म की सुधा से उसकी प्यास बुझा सके।

वास्तव में वह तो जीवन और चेतना के ऐसे विषम खण्डों में फूट कर बिखर गई है जो सामञ्जस्य को जन्म देने में असमर्थ परस्पर विरोधी उपकरणों से बने जान पड़ते हैं। इसका कारण कुछ तो हमारा व्यक्तिप्रधान युग है और कुछ वह प्रवृत्ति जो हमें जीवन से कुछ न सीख कर अध्ययन से सब कुछ सीखने को बाध्य करती है। हम संसार भर की विचारधाराओं में जीवन के मापदण्ड खोजते खोजते जीवन ही खो चुके हैं, अतः आज हम उन निर्जीव मापदण्डों की समष्टि मात्र हैं।

कवि के एक ओर अगणित वर्ग उपवर्गों में खण्डित मुट्ठी भर मनुष्यों की ज्ञान-राशि है और दूसरी ओर रूढ़ियों में अचल, असंख्य निर्जीव पिण्डों में बिखरे मानव का अज्ञान-पुञ्ज। एक अपने विशेष सिद्धान्तों के प्रचार के लिए कवि का कण्ठ खरीदने को प्रस्तुत है और दूसरा उसकी वाणी से उतना अर्थ निकाल लेना भी नहीं जानता जितना वह अपने आँगन में बोलनेवाले काक के शब्द का निकाल लेता है। एक ओर

सुष्टि का कोई स्थान न पाकर उसकी मानसिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ वह अनेकरूपी है। इनमें से कुछ के अनमिल स्वर हमें छायावाद की रागिनी में सुन पड़ते हैं और कुछ के प्रगतिवाद के शंख में। साम्य-वाद, समाजवाद, आदि विचारधाराओं से भी यह प्रवाह में पड़े हुए पत्थर हो रहे हैं।

इस प्रकार के सामूहिक असन्तोष और निराशा की पृष्ठभूमि पर जो प्रतिक्रियात्मक काव्य-रचना हो रही है वह बौद्धिक निरूपणों से बोझिल है। जिन व्यवस्थाओं में जीवन का उपयुक्त समाधान नहीं मिला उसकी कला-कसौटियों और काव्य के उपादानों पर उसे खीझ है। वास्तव में इस प्रगति के भीतर मध्यवर्ग की क्रान्ति ही गतिशील है। कवियों ने कुछ साम्यवाद के प्रतीकों के रूप में, कुछ ग्रामों की ओर लौटने की देशव्यापी पुकार से प्रभावित होकर और कुछ अपनी सहज संवेदना से, जिस पीड़ित, दलित और अपनी वेदना में मूर्च्छित वर्ग को काव्य का विषय बनाया है उसके जीवन में वे घुलमिल नहीं सके, इसीसे कहीं वह बुद्धि की दौड़ के लिए मैदान बन जाता है, कहीं भावनाओं को टाँगने के लिए खूँटी का काम देता है और कहीं निर्जीव चित्रों के लिए चेतना-हीन आधार बनकर ही सफलता पाता है। अवश्य ही करुणा को भी रुला देने वाले इस जीवन के कुछ सजीव चित्रण हुए हैं परन्तु वे नियम के अपवाद जैसे हैं।

इतिहास के क्रम में हमारी विचार-शृंखला की कड़ी बन कर तो यह प्रगतिवाद सदा ही रह सकता है पर काव्य में अपनी प्रतिष्ठा के लिए उसे कला की रूपरेखा में बँधना ही पड़ेगा। छायावाद युग की सूक्ष्म अनु-भूतियों की अभिव्यञ्जना-शैली चाहे उसके लिए उपयुक्त न हो, परन्तु कला के उस सहज, सरल और स्वाभाविक सौन्दर्य्य के प्रति उसकी सतर्क विरक्ति उचित नहीं जो जीवन के घृणित, कुत्सित रूप के प्रति भी हमारी ममता को जगा सकता है।

इसके अतिरिक्त विचारों के प्रसार और प्रचार के अनेक वैज्ञानिक

साधनों से युक्त युग में, गद्य का उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चलनेवाला रूप रहते हुए, हमें अपने केवल बौद्धिक निरूपणों और वादविशेष सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए कविता की सहायता की आवश्यकता नहीं रही। चाणक्य की नीति वीणा पर गाई जा सकती है, परन्तु इस प्रकार वह न नीति की कोटि में आ सकती है और न गीत की सीमा में, इसे जानकर ही इस बुद्धिवादी युग को हम कुछ दे सकेंगे।

इस युग के कवि के सामने जो विषम परिस्थितियाँ हैं उन पर मैं रंग फेरना नहीं चाहती। आज संगठित जाति वीरगाथाकालीन युद्ध के लिए नहीं सज्जित हो रही है जो कवि चरणों के समान कड़खों से उसे उत्तेजित मात्र करके सफल हो सके, वह ऐश्वर्यराशि पर बैठी पराजय भुलाने के साधन नहीं ढूँढ रही है जो कवि विलास की मदिरा ढाल ढाल कर अपने आपको भूल सके और वह कठोर संघर्ष से क्षामकण्ठ भी नहीं है जो कवि अध्यात्म की सुधा से उसकी प्यास बुझा सके।

वास्तव में वह तो जीवन और चेतना के ऐसे विषम खण्डों में फूट कर बिखर गई है जो सामञ्जस्य को जन्म देने में असमर्थ परस्पर विरोधी उपकरणों से बने जान पड़ते हैं। इसका कारण कुछ तो हमारा व्यक्तिप्रधान युग है और कुछ वह प्रवृत्ति जो हमें जीवन से कुछ न सीख कर अध्ययन से सब कुछ सीखने को बाध्य करती है। हम संसार भर की विचारधाराओं में जीवन के मापदण्ड खोजते खोजते जीवन ही खो चुके हैं, अतः आज हम उन निर्जीव मापदण्डों की समष्टि मात्र हैं।

कवि के एक ओर अगणित वर्ग उपवर्गों में खण्डित मुट्ठी भर मनुष्यों की ज्ञान-राशि है और दूसरी ओर रूढ़ियों में अचल, असंख्य निर्जीव पिण्डों में बिखरे मानव का अज्ञान-पुञ्ज। एक अपने विशेष सिद्धान्तों के प्रचार के लिए कवि का कण्ठ खरीदने को प्रस्तुत है और दूसरा उसकी वाणी से उतना अर्थ निकाल लेना भी नहीं जानता जितना वह अपने आँगन में बोलनेवाले काक के शब्द का निकाल लेता है। एक ओर

राजनैतिक उसे निष्क्रिय समझता है, दूसरी ओर समाज-सुधारक उसे अबोध कहता है। इसके अतिरिक्त उसका व्यक्तिगत जीवन भी है जिसके सब सुनहले स्वप्नों और रंगीन कल्पनाओं पर, व्यापक विषमता से निराशा की कालिमा फैलती जाती हैं।

इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल मिल जावे। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा असुविधा आज गौण हैं, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज मूल्य नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है। ऐसी क्रान्ति के अवसर पर सच्चे कलाकार पर— 'पीर बवर्ची भिश्ती खर' की कहावत चरितार्थ हो जाती है—उसे स्वप्न द्रष्टा भी होना है, जीवन के त्रुत्क्षाम निम्न स्तर तक मानसिक खाद्य भी पहुँचाना है, तृषित मानवता को संवेदना का जल भी देना है और सब के अज्ञान का भार भी सहना है। उसीके हृदय के तार इतने खिंचे सधे होते है कि हल्की सी साँस से भी झंकृत हो सकें, उसीके जीवन में इतनी विशालता सम्भव है कि उसमें सबके वर्गभेद एक होकर समा सकें और उसीकी भावना का अञ्चल इतना अछोर वन सकता है कि सबके आँसू और हँसी संचित कर सकें। सारांश यह कि आज के कवि को अपने लिए अनागरिक होकर भी संसार के लिए गृही, अपने प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी, अपने लिए संन्यासी होकर भी सबके लिए कर्म्मयोगी होना होगा, क्योंकि आज उसे अपने आपको खोकर पाना है।

युगयुगान्तर से कवि जीवन के जिस कलात्मक रूप की भावना करता आ रहा है आज उसे यदि मानवता के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाना है तो उसका कार्य्य उस युग से सहस्र ---- कठिन है

जब वह इस भावना को कुछ भावप्रवण मानवों को सहज ही सौंप सकता था। वह सौन्दर्य्य और भावना की विराट विविधता से भरे कलाभवन को जला कर अपने पथ को सहज और कार्य को सरल कर सकता है, क्योंकि तब उसे जीवन को निम्न स्तर पर केवल ग्रहण कर लेना होगा, उसे नई दिशा में ले जाना नहीं; परन्तु यह उसके अन्याय का कोई प्रतिकार नहीं है। फिर जब संज्ञाहीन मानवता अपनी सक्रिय चेतना लेकर जागेगी तब वह इस प्रासाद के भीतर झाँकना ही चाहेगी जिसके द्वार उसके लिए इतने दीर्घकाल से रुद्ध रहे हैं। बस मनुष्य जिसने युगों के समुद्र के समुद्र बह जाने पर भी एक कलात्मक पत्थर का खण्ड नहीं बह जाने दिया, असीम शून्य में अनन्त स्वरों की लहरों पर लहरें मिट जाने पर भी एक कलात्मक पंक्ति नहीं खोई, ऐसा खँडहर पाकर हमारे प्रति कृतज्ञ होकर कुछ और माँगेगा या नहीं इसका प्रमाण अन्य जाग्रत देश दे सकेंगे।

मनुष्य में कल्याणी कला का छोटा से छोटा अंकुर उगाने के लिए भी आज के कवि को सम्पूर्ण जीवन की खाद प्रसन्नता से देनी होगी इसमें मुझे संदेह नहीं है।

✓और अपने सम्बन्ध में क्या कहूँ।

एक व्यापक विकृति के समय, निर्जीव संस्कारों के बोझ से जड़ीभूत वर्ग में मुझे जन्म मिला है। परन्तु एक ओर साधनापूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर और आस्तिकता एक सक्रिय पर किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्वभूमि पर, माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने ब्रजभाषा में पद-रचना आरम्भ की थी। मेरे

प्रथम हिन्दी-गुरु भी ब्रजभाषा के ही समर्थक निकले, अतः उलटी-सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्या-पूर्त्तियों में मन लगाया। बचपन में जब पहले पहले खड़ीबोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं द्वारा हुआ तब उसमें बोलने की भाषा में ही लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे अतः छिपा छिपा कर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न आरम्भ किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छन्दों में वर्णन कर मैंने मानो खण्डकाव्य लिखने की इच्छा भी पूर्ण कर ली। बचपन की वह विचित्र कृति कदाचित् खो गई है। उसके उपरान्त ही बाह्य जीवन के दुःखों की ओर मेरा विशेष ध्यान जाने लगा था। पड़ोस की एक विधवा वधू के जीवन से प्रभावित होकर मैंने 'अबला', 'विधवा' आदि शीर्षकों से उस जीवन के जो शब्द चित्र दिये थे वे उस समय की पत्रिकाओं में भी स्थान पा सके। पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़ कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आई तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारत माता', 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरा कविता का शैशव भी समाप्त हो गया।

इस समय से मेरी प्रवृत्ति एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुई जिसमें व्यष्टिगत दुःख समष्टिगत गंभीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा। कहना नहीं होगा कि इस दिशा में मेरे मन को वही विश्राम मिला जो पक्षि शावक को कई बार गिर उठ कर अपने पंखों को सँभाल लेने पर मिलता होगा। नीहार का अधिकांश मेरे मैट्रिक होने से पहले लिखा गया है, अतः उतनी कम विद्याबुद्धि से पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन

की कोई सुविधा न मिल सकना ही स्वाभाविक था। बँगला न जानने के कारण उसकी नवीन काव्यधारा से निकट परिचय प्राप्त करने के साधनों का अभाव रहा। ऐसी दशा में मेरी काव्यजिज्ञासा कुछ तो प्राचीन साहित्य और दर्शन में सीमित रही और कुछ सन्तयुग क रहस्यात्मक आत्मा से लेकर छायावाद के कोमल कलेवर तक फैल गईं। करुणाबहुल होने के कारण बुद्ध सम्बन्धी साहित्य भी मुझे बहुत प्रिय रहा है। उस समय मिले हुए संस्कारों और प्रेरणा का मैंने कभी विश्लेषण नहीं किया है इसलिए उनके सम्बन्ध में क्या बताऊँ। इतना निश्चितरूप से कह सकती हूँ कि मेरे जीवन ने वही ग्रहण किया जो उसके अनुकूल था और आगे चलकर अध्ययन और ज्ञान की परिधि के विस्तार में भी उसे खोया नहीं वरन् उसमें नवीनता ही पाई।

मेरे सम्पूर्ण मानसिक विकास में उस बुद्धप्रसूत चिन्तन का भी विशेष महत्व है जो जीवन की बाह्य व्यवस्थाओं के अध्ययन में गति पाता रहा है। अनेक सामाजिक रूढ़ियों में दबे हुए, निर्जीव संस्कारों का भार ढोते हुए और विविध विषमताओं में साँस लेने का भी अवकाश न पाते हुए जीवन के ज्ञान ने मेरे भावजगत की वेदना को गहराई और जीवन को क्रिया दी है। उसके बौद्धिक निरूपण के लिए मैंने गद्य को स्वीकार किया था परन्तु उसका अधिकांश अभी अप्रकाशित ही है।

ऐसी निष्क्रिय विकृति के साथ जब इतना बढ़ा हुआ अज्ञान होता है तब शान्त बौद्धिक निरूपणों का स्थान क्रिया को न देना वैसा ही है जैसा जलते हुए घर में बैठकर लपटों को बुझाने की आज्ञा देना, इस अनुभूति के कारण मैंने व्यक्तिगत सुविधायें न खोज कर जीवन के आर्त्तक्रन्दन से भरे कोलाहल के बीच में खड़ा रहना ही स्वीकार किया है। निरन्तर एक स्पन्दित मृत्यु की छाया में चलते हुए मेरे अस्वस्थ शरीर और व्यस्त जीवन को जब कुछ क्षण मिल जाते हैं तब वह एक अमर चेतना और व्यापक करुणा से तादात्म्य करके अपने आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त करता है इसीसे मेरी सम्पूर्ण कविता का रचनाकाल कुछ घंटों ही में सीमित किया जा सकता

है। प्रायः ऐसी कविताएँ कम हैं जिनके लिखते समय मैंने रात में चौकीदार की सजग वाणी या किसी अकेले जाते हुए पथिक के गीत की कोई कड़ी नहीं सुनी।

इस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस अध्यात्म की आवश्यकता है वह किसी रूढ़ि, धर्म्म या सम्प्रदायगत न होकर उस सूक्ष्मसत्ता की परिभाषा है व्यष्टि की सप्राणता में समष्टिगत एकप्राणता का आभास देती है इस प्रकार वह मेरे सम्पूर्ण जीवन का ऐसा सक्रिय पूरक है जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है। जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण में निराशा का कुहरा है या व्यथा की आर्द्रता यह दूसरे ही बता सकेंगे, परन्तु हृदय में तो मैं आज निराशा का कोई स्पर्श नहीं पाती, केवल एक गम्भीर करुणा की छाया ही देखती हूँ।

साहित्य मेरे सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं है यह स्वीकार करने में मुझे लज्जा नहीं। आज हमारे जीवन का धरातल इतना विषम है कि एक पर्वत के शिखर पर बोलता है और दूसरा कूप की अतल गहराई में सुनता है। इस मानव-समष्टि में जिसमें सात प्रति शत साक्षर और एक प्रतिशत से भी कम काव्य के मर्मज्ञ हैं हमारा बौद्धिक निरूपण कुण्ठित और कलागत सृष्टि पंखहीन है। शेष के पास हम अपनी प्रसाधित कलात्मकता, और बौद्धिक ऐश्वर्य छोड़ कर व्यक्तिमात्र होकर ही पहुँच सकते हैं। बाहर के वैषम्य और संघर्ष से थकित मेरे जीवन को जिन क्षणों में विश्राम मिलता है उन्हीं को कलात्मक कलेवर में स्थिर कर मैं समय समय पर उनके पास पहुँचाती ही रही हूँ जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है। शेष जीवन को जहाँ देने की आवश्यकता है वहाँ उसे देने में मेरा मन कभी कुण्ठित नहीं होगा। मेरी कविता यथार्थ की चित्रकर्त्री न होकर स्थूलगत सूक्ष्म की भावक है अतः उसके उपयोग के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा सुना जा चुका है।

प्रस्तुत संग्रह में किसी विशेष दृष्टिकोण से चुनाव न करके मैंने

उन्हीं रचनाओं में से कुछ रख दी हैं जो मुझे अच्छी लगीं। मेरे दृष्टि-कोण से उनका सामञ्जस्य हो सकेगा या नहीं इस सम्बन्ध में मेरा कुछ कहना आवश्यक नहीं।

भौतिकता के कठोर धरातल पर, तर्क से निष्करुण और हिंसा से जर्जरित जीवन में ध्वस्त युग को देखकर स्वयं कभी कभी मेरा व्यथित मन भी अपनी करुण भावना से पूछना चाहता है, 'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री'।

—परन्तु मेरे हृदय के कोने कोने में सजग विश्वास जानता है कि जिस विद्युत् के भार से कठोर पृथ्वी फट जाती है उसीको बादल की सजलता अपने प्राणों का आलोक बनाये घूमती है। अग्नि को बुझाने के लिए हमें, उसके विरोधी उपादानों में ही शक्तिशाली जल की आवश्यकता होगी, अंगारों के पर्वत और लपटों के रेले की नहीं।

जीवन के इतिहास में पशुता से पशुता की, कठोरता से कठोरता की और बुद्धि से बुद्धि की कभी पराजय नहीं हुई, इस चिर परीक्षित सिद्धान्त की जैसी नई कसौटी हम चाहते थे वैसी ही लेकर हमारा ध्वंस-युग आया है। इसके ध्वंसावशेष में निर्माण का कार्य मनुष्यता, करुणा और भावनामूलक विश्वास ही से हो सकेगा यह मैं नहीं भूलना चाहती।

प्रयाग }
५-१०-४० }

महादेवी

आधुनिक कवि

१

१

निशा की, धो देता राकेश
चाँदनी में जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधुमास
'बता दो मधुमदिरा का मोल';
झटक जाता था पागल वात
धूलि में तुहिन-कणों के हार,
सिखाने जीवन का सङ्गीत
तभी तुम आये थे इस पार!
बिछाती थी सपनों के जाल
तुम्हारी वह करुणा की कोर,
गई वह अधरों की मुसकान
मुझे मधुमय पीड़ा में बोर;
भूलती थी मैं सीखे राग
बिछलते थे कर बारम्बार,
तुम्हें तब आता था करुणेश!
उन्हीं मेरी भूलों पर प्यार!
गए तब से कितने युग बीत
हुए कितने दीपक निर्वाण,
नहीं पर मैंने पाया सीख
तुम्हारा सा मनमोहन गान!
नहीं अब गाया जाता देव!
थकी अँगुली, हैं ढीले तार,
विश्ववीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झङ्कार!

२

रजतकरों की मृदुल तूलिका
से ले तुहिनबिन्दु सुकुमार,
कलियों पर जब आँक रहा था
करुण कथा अपनी संसार ;

तरल हृदय की उच्छ्वासें जब
भोले मेघ लुटा जाते,
अन्धकार दिन की चोटों पर
अञ्जन बरसाने आते !

मधु की बूँदों में छलके जब
तारकलोकों के शुचि फूल,
विधुर हृदय के मृदु कम्पन सा
सिहर उठा वह नीरव कूल ;

मूक प्रणय से, मधुर व्यथा से,
स्वप्नलोक के से आह्वान,
वे आये चुपचाप सुनाने
तब मधुमय मुरली की तान !

चल चितवन के दूत सुना
उनके, पल में रहस्य की बात,
मेरे निर्निमेष पलकों में
मचा गए क्या क्या उत्पात !

जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणों के छाले,
माँग रहा है विपुल वेदना-
के मन प्याले पर प्याले !

पीड़ा का साम्राज्य बस गया
उस दिन दूर क्षितिज के पार,
मिटना था निर्वाण जहाँ
नीरव रोदन था पहरेदार !

कैसे कहती हो सपना है
अलि ! उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास !

३

निश्वासों का नीड़ निशा का
बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,

तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार !'

हँस देता जब प्रात, सुनहरे
अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़ती किरणें भोली,

तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार !'

देकर सौरभ दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल,
'जिसके पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आँखों में धूल'?

'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार !'

स्वर्ण वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार,
गोधूली नभ के आँगन में
देती अगणित दीपक बार,

हँसकर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार!'

स्वप्नलोक के फूलों से कर
अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते
हैं जब मेरे पागल प्राण,

आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झङ्कार;
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार!'

|||

४

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारों की जाली,
उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली;

शशि को छूने मचली सी
लहरों का कर कर चुम्बन,
बेसुध तम की छाया का
तटनी करती आलिङ्गन!

अपनी जब करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता तब—
सूखा अवनी का अञ्चल;

पल्लव के डाल हिंडोले
सौरभ सोता कलियों में,
छिप छिप किरणें आतीं जब
मधु से सींची गलियों में!

आँखों में रात बिता जब
विधु ने पीला मुख फेरा,
आया फिर चित्र बनाने
प्राची में प्रात चितेरा;

कन कन में जब छाई थी
वह नवयौवन की लाली,
मैं निर्धन तब आई ले
सपनों से भर कर डाली!

जिन चरणों की नखज्योती—
ने हीरकजाल लजाये,
उन पर मैंने धुँधले से
आँसू दो चार चढ़ाये !

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का !!

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते !
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते !

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जला कर
करती रहती दीवाली !

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में !!

चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा !

५

मिल जाता काले अञ्जन में सन्ध्या की आँखों का राग,
जब तारे फैला फैला कर सूने में गिनता आकाश,

उसकी खोई सी चाहों में
घुट कर मूक हुई आहों में !

झूम झूम कर मतवाली सी पिये वेदनाओं का प्याला,
प्राणों में रूँधी निश्वासें आती ले मेघों की माला;

उसके रह रह कर रोने में
मिल कर विद्युत् के खोने में !

धीरे से सूने आँगन में फैला जब जाती हैं रातें,
भर भर के ठंढी साँसों में मोती से आँसू की पाँतें;

उनकी सिहराई कम्पन में
किरणों के प्यासे चुम्बन में !

जाने किस बीते जीवन का संदेशा दे मन्द समीरण,
छू देता अपने पंखों से मुर्झाये फूलों के लोचन;

उनके फीके मुस्काने में
फिर अलसाकर गिर जाने में ।

आँखों की नीरव भिक्षा में आँसू के मिटते दागों में,
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में,

कन कन में बिखरा है निर्मम !
मेरे मानस का सूनापन !

६

मैं अनन्त पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें,
उनको कभी न धो पायेंगी
अपने आँसू से रातें !

उड़ उड़ कर जो धूलि करेगी
मेघों का नभ में अभिषेक,
अमिट रहेगी उसके अञ्चल—
में मेरी पीड़ा की रेख !

तारों में प्रतिबिम्बित हो
मुस्कायेंगी अनन्त आँखें,
होकर सीमाहीन शून्य में
मँडरायेंगी अभिलाषें !

वीणा होगी मूक बजाने—
वाला होगा अन्तर्धान,
विस्मृति के चरणों पर आकर
लौटेंगे सौ सौ निर्वाण !

जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल,
देखोगे तुम देव ! अमरता
खेलेगी मिटने का खेल !

७

छाया की आँखमिचौनी
मेघों का मतवालापन,
रजनी के श्याम कपोलों
पर ढरकीले श्रम के कन;

फूलों की मीठी चितवन
नभ की ये दीपावलियाँ,
पीले मुख पर सन्ध्या के
वे किरणों की फुलझड़ियाँ!

विधु की चाँदी की थाली
मादक मकरन्द भरी सी
जिसमें उजियारी रातें
लुटतीं घुलतीं मिसरी सी;

भिक्षुक से फिर जाओगे
जब लेकर यह अपना धन
करुणामय तब समझोगे
इन प्राणों का मँहगापन!

क्यों आज दिये देते हो
अपना मरकत सिंहासन?
यह है मेरे मरु मानस
का चमकीला सिकताकन!

आलोक यहाँ लुटता है
बुझ जाते हैं तारागण,
अविराम जला करता है
पर मेरा दीपक सा मन!

जिसकी विशाल छाया में
जग बालक सा सोता है,
मेरी आँखों में वह दुख
आँसू बन कर खोता है !

जग हँस कर कह देता है
मेरी आँखें है निर्धन,
इनके बरसाये मोती
क्या वह अब तक पाया गिन?

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा,
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकेंगे पीड़ा ?

उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिक्षुक जीवन ?
उनमें अनन्त करुणा है
इसमें असीम सूनापन !

|||

८

घोर तम छाया चारों ओर
घटायें घिर आईं घन घोर;
वेग मारुत का है प्रतिकूल
हिले जाते हैं पर्वतमूल;
गरजता सागर बारम्बार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

तरङ्गें उठीं पर्वताकार
भयङ्कर करतीं हाहाकार,
अरे उनके फेनिल उच्छ्वास
तरी का करते हैं उपहास;
हाथ से गई छूट पतवार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

ग्रास करने नौका, स्वच्छन्द
घूमते फिरते जलचरवृन्द;
देखकर काला सिन्धु अनन्त
हो गया हा साहस का अन्त !
तरङ्गें हैं उत्ताल अपार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

बुझ गया वह नक्षत्र-प्रकाश
चमकती जिसमें मेरी आश;
रैन बोली सज कृष्ण दुकूल
विसर्जन करो मनोरथ फूल;
न लाये कोई कर्णधार;
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

सुना था मैंने इसके पार
बसा है सोने का संसार,
जहाँ के हँसते विहग ललाम
मृत्यु-छाया का सुन कर नाम।
धरा का है अनन्त शृङ्गार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

जहाँ के निर्झर नीरव गान
सुना करते अमरत्व प्रदान;
सुनाता नभ अनन्त झङ्कार
बजा देता उर के सब तार;
भरा जिसमें असीम सा प्यार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

पुष्प में है अनन्त मुस्कान
त्याग का है मारुत में गान;
सभी में है स्वर्गीय विकास
वही कोमल कमनीय प्रकाश;
दूर कितना है वह संसार।
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

सुनाई किसने पल में आन
कान में मधुमय मोहक तान ?
'तरी को ले जाओ मँझधार
डूब कर हो जाओगे पार;
विसर्जन ही है कर्णधार;
वही पहुँचा देगा उस पार !'

ाकी पलकें सपनों पर डाल
व्यथा में सोता हो आकाश,
छलकता जाता हो चुपचाप
बादलों के उर से अवसाद;

ादना की वीणा पर देव
शून्य गाता हो नीरव राग,
मिलाकर विश्वासों के तार
गूँथती हो जब तारे रात;

उन्हीं तारक फूलों में देव
गूँथना मेरे पागल प्राण—
हठीले मेरे छोटे प्राण!

किसी जीवन की मीठी याद
लुटाता हो मतवाला प्रात,
कली अलसाई आँखें खोल
सुनाती हो सपने की बात;

खोजते हों खोया उन्माद
मन्द मलयानिल के उच्छ्वास,
माँगती हो आँसू के बिन्दु
मूक फूलों की सोती प्यास;

मिला देना धीरे से देव
उसे मेरे आंसू सुकुमार—
सजीले से आंसू के हार!

मचलते उद्गारों से खेल
उलझते हों किरणों के जाल,
किसी की छूकर ठंढी साँस
सिहर जाती हों लहरें बाल;

चकित सा सूने में संसार
गिन रहा हो प्राणों के दाग़,
सुनहली प्याली में दिनमान
किसी का पीता हो अनुराग;

ढाल देना उसमें अनजान
देव मेरा चिर संचित राग—
अरे यह मेरा मादक राग!

मत्त हो स्वप्निल हाला ढाल
महानिद्रा में पारावार,
उसी की धड़कन में तूफ़ान
मिलाता हो अपनी झङ्कार;

झकोरों से मोहक संदेश
कह रहा हो छाया का मौन,
सुप्त आहों का दीन विषाद
पूछता हो आता है कौन?

बहा देना आकर चुपचाप
तभी यह मेरा जीवन फूल—
सुभग मेरा मुरझाया फूल!

जो मुखरित कर जाती थी
मेरा नीरव आवाहन,
मैंने दुर्बल प्राणों की
वह आज सुला दी कम्पन!

थिरकन अपनी पुतली की
भारी पलकों में बाँधी,
निस्पन्द पड़ी हैं आँखें
बरसानेवाली आँधी!

जिसके निष्फल जीवन ने
जल जल कर देखी राहें,
निर्वाण हुआ है देखो
वह दीप लुटाकर चाहें!

निर्घोर घटाओं में छिप
तड़पन चपला की सोती,
झंझा के उन्मादों में
घुलती जाती बेहोशी!

करुणामय को भाता है
तम के पर्दों में आना,
हे नभ की दीपावलियो!
तुम पल भर को बुझ जाना!

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास
देववीणा का टूटा तार,
मृत्यु का क्षणभंगुर उपहार
रत्न वह प्राणों का शृङ्गार;
नई आशाओं का उपवन
मधुर वह था मेरा जीवन !

क्षीरनिधि की थी सुप्त तरङ्ग
सरलता का न्यारा निर्झर,
हमारा वह सोने का स्वप्न
प्रेम की चमकीली आकर,
शुभ्र जो था निर्मेघ गगन
सुभग मेरा सङ्गी जीवन !

अलक्षित आ किसने चुपचाप
सुना अपनी सम्मोहन तान,
दिखाकर माया का साम्राज्य
बना डाला इसको अज्ञान ?
मोह-मदिरा का आस्वादन
किया क्यों हे भोले जीवन !

तुम्हें ठुकरा जाता नैराश्य
हँसा जाती है तुमको आश,
नचाता मायावी संसार
लुभा जाता सपनों का हास;
मानते विष को सञ्जीवन
मुग्ध मेरे भूले जीवन !

न रहता भौंरों का आह्वान
    नहीं रहता फूलों का राज्य,
        कोकिला होती अन्तर्धान
            चला जाता प्यारा ऋतुराज;
                असम्भव है चिर सम्मेलन
                न भूलो क्षणभंगुर जीवन !

विकसते मुरझाने को फूल
    उदय होता छिपने को चन्द,
        शून्य होने को भरते मेघ
            दीप जलता होने को मन्द;
                यहाँ किसका अनन्त यौवन ?
                अरे अस्थिर छोटे जीवन !

छलकती जाती है दिन रैन
    लबालब तेरी प्याली मीत,
        ज्योति होती जाती है क्षीण
            मौन होता जाता सङ्गीत;
                करो नयनों का उन्मीलन
                क्षणिक हे मतवाले जीवन !

शून्य से बन जाओ गम्भीर
    त्याग की हो जाओ झङ्कार,
        इसी छोटे प्याले में आज
            डुबा डालो सारा संसार;
                लजा जायें यह मुग्ध सुमन
                बनो ऐसे छोटे जीवन !

सखे ! यह है माया का देश
    क्षणिक है मेरा तेरा सङ्ग,
        यहाँ मिलता काँटों में बन्धु !
            सजीला सा फूलों का रङ्ग;
                तुम्हें करना विच्छेद सहन
                न भूलो हे प्यारे जीवन !

१२

जिस दिन नीरव तारों से,
बोलीं किरणों की अलकें,
'सो जाओ अलसाई हैं
सुकुमार तुम्हारी पलकें'!

जब इन फूलों पर मधु की
पहली बूँदें बिखरी थीं,
आँखें पङ्कज की देखीं
रवि ने मनुहार भरी सीं!

दीपकमय कर डाला जब
जलकर पतङ्ग ने जीवन,
सीखा बालक मेघों ने
नभ के आँगन में रोदन;

उजियारी अवगुण्ठन में
विधु ने रजनी को देखा,
तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ
उनके चरणों की रेखा!

मैं फूलों में रोती वे
बालारुण में मुस्काते
मैं पथ में बिछ जाती हूँ
वे सौरभ में उड़ जाते!

वे कहते हैं उनको मैं
अपनी पुतली में देखूँ,
यह कौन बता जायेगा
किसमें पुतली को देखूँ!

मेरी पलकों पर रातें
बरसा कर मोती सारे,
कहतीं 'क्या देख रहे हैं
अविराम तुम्हारे तारे'?

तम ने इन पर अञ्जन से
बुन बुन कर चादर तानी,
इन पर प्रभात ने फेरा
आकर सोने का पानी!

इन पर सौरभ की साँसें
लुट लुट जातीं दीवानी,
यह पानी में बैठी हैं
बन स्वप्नलोक की रानी!

कितनी बीतीं पतझारें
कितने मधु के दिन आये,
मेरी मधुमय पीड़ा को
कोई पर ढूँढ न पाये!

झिप झिप आँखें कहती हैं
'यह कैसी है अनहोनी?
हम और नहीं खेलेंगी
उनसे यह आँखमिचौनी'!

अपने जर्जर अञ्चल में
भरकर सपनों की माया,
इन थके हुए प्राणों पर
छाई विस्मृति की छाया!

मेरे जीवन की जाग्रति!
देखो फिर भूल न जाना,
जो वे सपना बन आवें
तुम चिर निद्रा बन जाना!

१३

मधुरिमा के, मधु के अवतार
सुधा से, सुषमा से, छविमान,
आँसुओं में सहमे अभिराम
तारकों से हे मूक अजान!
सीखकर मुस्काने की बान
कहाँ आये हो कोमल प्राण ?

स्निग्ध रजनी से लेकर हास
रूप से भर कर सारे अङ्ग,
नये पल्लव का घूँघट डाल
अछूता ले अपना मकरन्द,
ढूँढ़ पाया कैसे यह देश
स्वर्ग के हे मोहक सन्देश ?

रजत किरणों से नैन पखार
अनोखा ले सौरभ का भार,
छलकता लेकर मधु का कोष,
चले आये एकाकी पार;
कहो क्या आये हो पथ भूल,
मञ्जु छोटे मुस्काते फूल ?

उषा के छू आरक्त कपोल
किलक पड़ता तेरा उन्माद,
देख तारों के बुझते प्राण
न जाने क्या आ जाता याद ?
हेरती है सौरभ की हाट
कहो किस निर्मोही की बाट ?

चाँदनी का शृङ्गार समेट
अधखुली आँखों की यह कोर,
लुटा अपना यौवन अनमोल
ताकती किस अतीत की ओर ?
जानते हो यह अभिनव प्यार
किसी दिन होगा कारागार ?

कौन वह है सम्मोहन राग
खींच लाया तुमको सुकुमार ?
तुम्हें भेजा जिसने इस देश
कौन वह है निष्ठुर कर्तार ?
हँसो पहनो काँटों के हार
मधुर भोलेपन के ससार !

१४

वे मुस्काते फूल, नहीं—
जिनको आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप नहीं—
जिनको भाता है बुझ जाना;

वे नीलम के मेघ, नहीं—
जिनको है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज, नहीं—
जिसने देखी जाने की राह !

वे सूने से नयन, नहीं—
जिनमें बनते आँसू-मोती,
वह प्राणों की सेज, नहीं—
जिसमें वेसुध पीड़ा सोती;

ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद !

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार !

चुभते ही तेरा अरुण बान !
बहते कन कन से फूट फूट, मधु के निर्झर से सजल गान !

इन कनकरश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम सिन्धु जाग;
बुद्बुद् से बह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग;

बनती प्रवाल का मृदुल कूल, जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान !

नव कुन्द-कुसुम से मेघ-पुञ्ज
बन गये इन्द्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक, ताल,
हिम-विन्दु नचाती तरलप्राण,

धो स्वर्णप्रात में तिमिरगात, दुहराते अलि निशि-मूक तान !

सौरभ का फैला केश-जाल
करतीं समीरपरियाँ विहार;
गीली केसर मद झूम झूम,
पीते तितली के नव कुमार;

मर्मर का मधुसंगीत छेड़, देते हैं हिल पल्लव अजान !

फैला अपने मृदु स्वप्नपंख
उड़ गई नींदनिशि क्षितिज-पार;
अधखुले दृगों के कञ्जकोष—
पर छाया विस्मृति का खुमार;

रँग रहा हृदय ले अश्रु हास, यह चतुर चितेरा सुधिविहान !

१६

शून्यता में निद्रा की बन,
उमड़ आते ज्यों स्वप्निल घन,
पूर्णता कलिका की सुकुमार,
छलक मधु में होती साकार!

हुआ त्यों सूनेपन का भान,
प्रथम किसके उर में अम्लान?
और किस शिल्पी ने अनजान,
विश्वप्रतिमा कर दी निर्माण?

काल सीमा के सङ्गम पर,
मोम सी पीड़ा उज्ज्वल कर,
उसे पहनाई अवगुण्ठन,
हास औ, रोदन से बुनबुन!

कनक से दिन मोती सी रात,
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात;
मिटाता रँगता बारम्बार,
कौन जग का वह चित्राधार?

शून्य नभ में तम का चुम्बन,
जला देता असंख्य उडुगण;
बुझा क्यों उनको जाती मूक,
भोर ही उजियाले की फूँक?

रजतप्याले में निद्रा ढाल,
बाँट देती जो रजनी बाल,
उसे कलियों में आँसू घोल,
चुकाना पड़ता किसको मोल?

पोछती जब हौले से वात,
इधर निशि के आँसू अवदात,
उधर क्यों हँसता दिन का बाल,
अरुणिमा से रञ्जित कर गाल !

कली पर अलि का पहला गान,
थिरकता जब बन मृदु मुस्कान,
विफल सपनों के हार पिघल,
ढुलकते क्यों रहते प्रतिपल ?

गुलालों से रवि का पथ लीप,
जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती सन्ध्या भरी सुहाग,
दृगों से झरता स्वर्णपराग;

उसे तम की बढ़ एक झकोर,
उड़ा कर ले जाती किस ओर ?
अथक सुषमा का सृजन विनाश,
यही क्या जग का श्वासोच्छ्वास ?

किसी की व्यथासिक्त चितवन,
जगाती कण कण में स्पन्दन;
गूँथ उनकी साँसों के गीत,
कौन रचता विराट सङ्गीत ?

प्रलय बनकर किसका अनुताप,
डुबा जाता उसको चुपचाप ?

आदि में छिप आता अवसान,
अन्त में बनता नव्य विधान;
सूत्र ही है क्या यह संसार,
गुँथे जिसमें सुख दुख जयहार ?

१७

रजतरश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता;
इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता !

उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का,
एक सूत्र सबके बन्धन का,

संसृति के सूने पृष्ठों में करुणकाव्य वह लिख जाता !

वह उर में आता बन पाहुन,
कहता मन से 'अब न कृपण बन',
मानस की निधियाँ लेता गिन,

दृग-द्वारों को खोल विश्वभिक्षुक पर, हँस बरसा आता !

यह जग है विस्मय से निर्मित,
मूक पथिक आते जाते नित,
नहीं प्राण प्राणों से परिचित,

यह उनका संकेत नहीं जिसके बिन विनिमय हो पाता !

मृगमरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पग धर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर,

गर्वित कहता 'मैं मधु हूँ मुझसे क्या पतझर का नाता' ?

दुख के पद छू बहते झर झर,
कण कण से आँसू के निर्झर,
हो उठता जीवन मृदु उर्वर,

लघु मानस में वह असीम जग को आमन्त्रित कर लाता !

१८

चिर तृप्ति कामनाओं का
कर जाती निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी
पल में विरक्ति जाती बन !
पूर्णता यही भरने की
ढुल, कर देना सूने घन;
सुख की चिर पूर्ति यही है
उस मधु से फिर जावे मन !

चिर ध्येय यही जलने का
ठंढी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना !
मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर !

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुंठन से;
मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस
परिचित हो लूँ कण कण से !
तुम रहो सजल आँखों की
सित असित मुकुरता बनकर;
मैं सब कुछ तुमसे देखूँ
तुमको न देख पाऊँ पर !

चिर मिलनविरह-पुलिनों की
सरिता हो मेरा जीवन;
प्रतिपल होता रहता हो
युग कूलों का आलिङ्गन!

इस अचल क्षितिज-रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के;
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके!

द्रुत पंखोंवाले मन को
तुम अन्तहीन नभ होना;
युग उड़ जावें उड़ते ही
परिचित हो एक न कोना!

तुम अमर प्रतीक्षा हो मैं
पग विरहपथिक का धीमा;
आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पंथ की सीमा!

तुम हो प्रभात की चितवन
मैं विधुर निशा बन आऊँ;
काटूँ वियोग-पल रोते
संयोग-समय छिप जाऊँ!

आवे बन मधुर मिलन-क्षण
पीड़ा की मधुर कसक सा;
हँस उठे विरह ओठों में—
प्राणों में एक पुलक सा!

पाने में तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना;
यह चिर अतृप्ति हो जीवन
चिर तृष्णा हो मिट जाना !

गूँथें विषाद के मोती
चाँदी सी स्मित के डोरे;
हों मेरे लक्ष्य-क्षितिज की
आलोक—तिमिर दो छोरें !

कुमुद-दल से वेदना के दाग़ को
पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ,
चौंक उठतीं अनिल के निश्वास छू
तारिकायें चकित सी अनजान सी,
तब बुला जाता मुझे उस पार जो,
दूर के संगीत सा वह कौन है!

शून्य नभ पर उमड़ जब दुखभार सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तडित् की मुस्कान में वह कौन है!

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती सा जलधि जब काँपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज से
ज्योत्स्ना के रजतपारावार में,
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे,
नींद के उच्छ्वास सा, वह कौन है!

जब कपोल गुलाब पर शिशुप्रात के
सूखते नक्षत्र जल के बिन्दु से,
रश्मियों की कनक-धारा में नहा
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे,
स्वप्न-शाला में यवनिका डाल जो
तब दृगों को खोलता वह कौन है!

किसी नक्षत्र-लोक से टूट
विश्व के शतदल पर अज्ञात,
ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद
तरल मोती सा ले मृदु गात,
नाम से जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान !

किसी निर्मम कर का आघात
छेड़ता जब वीणा के तार,
अनिल के चल पंखों के साथ
दूर जो उड़ जाती झङ्कार,
जन्म ही उसे विरह की रात,
सुनावे क्या वह मिलन-प्रभात !

चाह शैशव सा परिचयहीन
पलक-दोलों में पल भर भूल,
कपोलों पर जो ढुल चुपचाप
गया कुम्हला आँखों का फूल,
एक ही आदि अन्त की साँस—
कहे वह क्या पिछला इतिहास !

मूक हो जाता वारिद-घोष
जगा कर जब सारा संसार,
गूँजती, टकराती असहाय
धरा से जो प्रतिध्वनि सुकुमार,
देश का जिसे न निज का भान,
बतावे क्या अपनी पहिचान !

सिन्धु को क्या परिचय दें देव !
बिगड़ते बनते बीचि-विलास !
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद् प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश !
मुझे क्यों देते हो अभिराम !
थाह पाने का दुस्तर काम !

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास,
चुरा लाया जो विश्व समीर
वही पीड़ा की पहली साँस !
छोड़ क्यों देते बारम्बार,
मुझे तम से करने अभिसार !

छिपा है जननी का अस्तित्व
रुदन में शिशु के अर्थविहीन,
मिलेगा चित्रकार का ज्ञान
चित्र की ही जड़ता में लीन;
दृगों में छिपा अश्रु का हार,
सुभग है तेरा ही उपहार !

२१

तुहिन के पुलिनों पर छविमान,
किसी मधुदिन की लहर समान,
स्वप्न की प्रतिमा पर अनजान,
वेदना का ज्यों छाया दान,
विश्व में यह भोला जीवन—
स्वप्न जागृति का मूक मिलन,
बाँध अञ्चल में विस्मृत धन,
कर रहा किसका अन्वेषण !

धूलि के कण में नभ सी चाह,
बिन्दु में दुख का जलधि अथाह,
एक स्पन्दन में स्वप्न अपार,
एक पल असफलता का भार;
साँस में अनुतापों का दाह,
कल्पना का अविराम प्रवाह ;
यही तो हैं इसके लघु प्राण,
शाप वरदानों के सन्धान !

भरे उर में छवि का मधुमास,
दृगों में अश्रु अधर में हास,
ले रहा किसका पावस प्यार,
विपुल लघु प्राणों में अवतार !
नील नभ का असीम विस्तार !
अनल के धूमिल कण दो चार,
सलिल से निर्भर वीचि-विलास,
मन्द मलयानिल से उच्छ्वास,

धरा से ले परमाणु उधार,
किया किसने मानव साकार ?

दृगों में सोते हैं अज्ञात;
निदाघों के दिन पावस-रात;
सुधा का मधु हाला का राग,
व्यथा के घन अतृप्त की आग !
छिपे मानस में पवि नवनीत,
निमिषि की गति निर्झर के गीत,
अश्रु की उर्म्मि हास का वात,
कुहू का तम माधव का प्रात !

हो गये क्या उर में वपुमान,
क्षुद्रता रज की नभ का मान,
स्वर्ग की छवि रौरव की छाँह,
शीत हिम की वाड़व का दाह,
और—यह विस्मय का संसार,
अखिल वैभव का राजकुमार;
धूलि में क्यों खिलकर नादान,
उसी में होता अन्तर्धान ?

काल के प्याले में अभिनव,
ढाल जीवन का मधुआसव,
नाश के हिमअधरों से मौन,
लगा देता है आकर कौन ?
बिखर कर कन कन के लघुप्राण,
गुनगुनाते रहते यह तान,
"अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास" !

दूर है अपना लक्ष्य महान,
एक जीवन पग एक समान;
अलक्षित परिवर्तन की डोर,
खींचती हमें इष्ट की ओर!

छिपा कर उर में निकट प्रभात,
गहनतम होती पिछली रात;
सघन वारिद अम्बर से छूट,
सफल होते जल-कण में फूट!

स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार,
दीप करता आलोक-प्रसार,
गला कर मृत्पिण्डों में प्राण,
बीज करता असंख्य निर्माण!

सृष्टि का है यह अमिट विधान,
एक मिटने में सौ वरदान,
नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास,
विफलता में है पूर्ति-विकास!

२२

कह दे माँ क्या अब देखूँ !

देखूँ खिलती कलियाँ या
प्यासे सूखे अधरों को,
तेरी चिर यौवन-सुषमा
या जर्जर जीवन देखूँ !

देखूँ हिमहीरक हँसते
हिलते नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों से
झरते आँसू-कण देखूँ !

सौरभ पी पी कर बहता
देखूँ यह मन्द समीरण,
दुख की घूँटें पीतीं या
ठंढी साँसों को देखूँ !

खेलूँ परागमय मधुमय
तेरी वसन्त-छाया में,
या झुलसे संतापों से
प्राणों का पतझर देखूँ !

मकरन्द-पगी केसर पर
जीती मधुपरियाँ ढूँढूँ,
या उरपञ्जर में कण को
तरसे जीवनशुक देखूँ !

कलियों की वनजाली में
छिपती देखूँ लतिकायें,
या दुर्दिन के हाथों में
लज्जा की करुणा देखूँ !

नहलाऊँ नव किसलय के—
झूले में अलिशिशु तेरे,
पाषाणों में मसले या
फूलों से शैशव देखूँ !

तेरे असीम आँगन की
देखूँ जगमग दीवाली,
या इस निर्जन कोने के
बुझते दीपक को देखूँ !

देखूँ विहगों का कलरव
घुलता जल की कलकल में,
निस्पन्द पड़ी वीणा से
या बिखरे मानस देखूँ !

मृदु रजतरश्मियाँ देखूँ
उलझी निद्रा-पंखों में,
या निर्निमेष पलकों में
चिन्ता का अभिनय देखूँ !

तुममें अम्लान हँसी है
इसमें अजस्र आँसू जल,
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रन्दन देखूँ !

२३

दिया क्यों जीवन का वरदान ?

इसमें है स्मृतियों की कम्पन,
सुप्त व्यथाओं का उन्मीलन;
स्वप्नलोक की परियाँ इसमें

भूल गईं मुस्कान !

इसमें है झंझा का शैशव,
अनुरञ्जित कलियों का वैभव;
मलयपवन इसमें भर जाता

मृदु लहरों के गान !

इन्द्रधनु सा घन-अञ्चल में,
तुहिनबिन्दु सा किसलय दल में,
करता है पल पल में देखो

मिटने का अभिमान !

सिकता में अङ्कित रेखा सा,
वात-विकम्पित दीपशिखा सा;
काल-कपोलों पर आँसू सा

ढुल जाता हो म्लान !

नवमेघों को रोता था
जब चातक का बालक मन,
इन आँखों में करुणा के
घिर घिर आते थे सावन!

किरणों को देख चुराते
चित्रित पंखों की माया,
पलकें आकुल होती थीं
तितली पर करने छाया!

जब अपनी निश्वासों से
तारे पिघलातीं रातें,
गिन गिन धरता था यह मन
उनके आँसू की पाँतें!

जो नव लज्जा जाती भर
नभ में कलियों की लाली,
वह मृदु पुलकों से मेरी
छलकाती जीवन-प्याली!

घिर कर अविरल मेघों से
जब नभमण्डल झुक जाता,
अज्ञात वेदनाओं से
मेरा मानस भर आता!

गर्जन के द्रुत तालों पर
चपला का बेसुध नर्तन;
मेरे मन-बालशिखी में
संगीत मधुर जाता बन!

किस भाँति कहूँ कैसे थे
वे जग से परिचय के दिन !
मिश्री सा घुल जाता था
मन छूते ही आँसू-कन !

अपनेपन की छाया तब
देखी न मुकुरमानस ने;
उसमें प्रतिबिम्बित सबके
सुख दुख लगते थे अपने !

तब सीमाहीनों से था
मेरी लघुता का परिचय;
होता रहता था प्रतिपल
स्मित आँसू का विनिमय !

परिवर्तन-पथ में दोनों
शिशु से करते थे क्रीड़ा;
मन माँग रहा था विस्मय
जग माँग रहा था पीड़ा !

यह दोनों दो ओरें थीं
संसृति की चित्रपटी की;
उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी !

किसने अनजाने आकर
वह लिया चुरा भोलापन !
उस विस्मृत के सपने से
चौंकाया छूकर जीवन !

जाती नवजीवन बरसा
जो करुण घटा कण कण में
निस्पन्द पड़ी सोती वह
अब मन के लघु बन्धन में !
स्मित बनकर नाच रहा है
अपना लघु सुख अधरों पर,
अभिनय करता पलकों में
अपना दुख आँसू बनकर !

अपनी लघु निश्वासों में
अपनी साधों की कम्पन,
अपने सीमित मानस में
अपने सपनों का स्पन्दन !
मेरा अपार वैभव ही
मुझसे है आज अपरिचित,
हो गया उदधि जीवन का
सिकता-कण में निर्वासित !

स्मित ले
दीप बाती

यह साँसें गिनते गिनते
नभ की पलकें झप जातीं,
मेरे विरक्त अञ्चल में
सौरभ समीर भर जाती!
मुख जोह रहे हैं मेरा
पथ में कब से चिर सहचर,
मन रोया ही करता क्यों
अपने एकाकीपन पर!

अपनी कण कण में बिखरीं
निधियाँ न कभी पहिचानी;
मेरा लघु अपनापन है
लघुता की अकथ कहानी!
मैं दिन को ढूँढ़ रही हूँ
जुगनू की उजियाली में,
मन माँग रहा है मेरा
सिकता हीरक प्याली में!

जाती नवजीवन बरसा
जो करुण घटा कण कण में
निस्पन्द पड़ी सोती वह
अब मन के लघु बन्धन में !
स्मित बनकर नाच रहा है
अपना लघु सुख अधरों पर,
अभिनय करता पलकों में
अपना दुख आँसू बनकर !

अपनी लघु निश्वासों में
अपनी साधों की कम्पन,
अपने सीमित मानस में
अपने सपनों का स्पन्दन !
मेरा अपार वैभव ही
मुझसे है आज अपरिचित,
हो गया उदधि जीवन का
सिकता-कण में निर्वासित !

स्मित ले प्रभात आता नित
दीपक दे सन्ध्या जाती
दिन ढलता सोना बरसा
निशि मोती दे मुस्काती !
अस्फुट मर्मर में अपनी
गति की कलकल उलझाकर,
मेरे अनन्तपथ में नित
संगीत बिछाते निर्झर !

यह साँसें गिनते गिनते
नभ की पलकें झप जातीं,
मेरे विरक्त अञ्चल में
सौरभ समीर भर जाती।
मुख जोह रहे हैं मेरा
पथ में कब से चिर सहचर,
मन रोया ही करता क्यों
अपने एकाकीपन पर!

अपनी कण कण में बिखरीं
निधियाँ न कभी पहिचानी;
मेरा लघु अपनापन है
लघुता की अकथ कहानी!
मैं दिन को ढूँढ़ रही हूँ
जुगनू की उजियाली में,
मन माँग रहा है मेरा
सिकता हीरक प्याली में!

२५
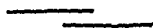
प्राणों के अन्तिम पाहुन !

चाँदनी-धुला अञ्जन सा, विद्युत-मुस्कान बिछाता,
सुरभित समीरपंखों से उड़ जो नभ में घिर आता,
वह वारिद तुम आना बन !

जो श्रान्त पथिक पर रजनी छाया सी आ मुस्काती,
भारी पलकों में धीरे निद्रा मधु ढुलकाती,
त्यों करना बेसुध जीवन !

अज्ञातलोक से छिप छिप ज्यों उतर रश्मियाँ आतीं,
मधु पीकर प्यास बुझाने फूलों के उर खुलवातीं,
छिप आना तुम छायातन !

कितनी करुणाओं का मधु कितनी सुषमा की लाली,
पुतली में छान भरी है मैंने जीवन की प्याली,
पीकर लेना शीतल मन !

हिम से जड़ नीला अपना निस्पन्द हृदय ले आना,
मेरा जीवनदीपक धर उसको सस्पन्द बनाना,
हिम होने देना यह तन !

कितने युग बीत गये इन निधियों का करते संचय,
तुम थोड़े से आँसू दे इन सबको कर लेना क्रय,
अब हो व्यापार-विसर्जन !

[illegible]

है अन्तहीन लय यह जग पल पल है मधुमय कम्पन,
तुम इसकी स्वरलहरी में धोना अपने श्रम के कण,
मधु से भरना सूनापन !

पाहुन से आते जाते कितने सुख के दुख के दल,
वे जीवन के क्षण क्षण में भरते असीम कोलाहल,
तुम बन आना नीरव क्षण !

तेरी छाया में दिव को हँसता है गर्वीला जग,
तू एक अतिथि जिसका पथ हैं देख रहे अगणित दृग,
साँसों में घड़ियाँ गिन गिन !

अलि कैसे उनको पाऊँ!

वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में, मैं बाँध बाँध पछताऊँ!

मेघों में विद्युत सी छवि, उनकी बन कर मिट जाती,
आँखों की चित्रपटी में, जिसमें मैं आँक न पाऊँ!

वे आभा बन खो जाते, शशिकिरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कण कण में, ढूँढूँ पहचान न पाऊँ!

सोते सागर की धड़कन, बन लहरों की थपकी से,
अपनी यह करुण कहानी, जिसमें उनको न सुनाऊँ!

वे तारकबालाओं की, अपलक चितवन बन आते,
जिसमें उनकी छाया भी, मैं छू न सकूँ अकुलाऊँ!

वे चुपके से मानस में, आ छिपते उच्छ्वासें बन,
जिसमें उनको साँसों में, देखूँ पर रोक न पाऊँ!

वे स्मृति बन कर मानस में, खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी इस निष्ठुरता को, जिसमें मैं भूल न जाऊँ!

२७

प्रिय इन नयनों का अश्रु-नीर !

दुख से आविल सुख से पंकिल,
बुद्बुद से स्वप्नों से फेनिल,
बहता है युग युग से अधीर !

जीवनपथ का दुर्गमतम तल,
अपनी गति से कर सजल सरल,
शीतल करता युग तृषित तीर !

इसमें उपजा यह नीरज सित,
कोमल कोमल लज्जित मीलित,
सौरभ सी लेकर मधुर पीर !

इसमें न पङ्क का चिह्न शेष,
इसमें न ठहरता सलिल-लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर !

तेरे करुणा-कण से विलसित,
हो तेरी चितवन से विकसित,
छू तेरी श्वासों का समीर !

धीरे धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त-रजनी !
तारकमय नव वेणीबन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मिवलय सित घन-अवगुण्ठन,
मुक्तादल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसन्त-रजनी !

मर्मर की सुमधुर नूपुरध्वनि,
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि,
भर पदगति में अलस तरंगिणि,
तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मित से सजनी !
विहँसती आ वसन्त-रजनी !

पुलकित स्वप्नों की रोमावलि,
कर में हो स्मृतियों की अंजलि,
मलयानिल का चल दुकूल अलि !
घिर छाया सी श्याम, विश्व को
आ अभिसार बनी !
सकुचती आ वसन्त-रजनी !

सिहर सिहर उठता सरिता-उर,
खुल खुल पड़ते सुमन सुधा भर,
मचल मचल आते पल फिर फिर,
सुन प्रिय की पदचाप हो गई
पुलकित यह अवनी !
सिहरती आ वसन्त-रजनी !

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर ?

सकुच सलज खिलती शेफाली;
अलस मौलश्री डाली डाली,
बुनते नव प्रवाल कुञ्जों में,
रजत श्याम तारों से जाली;

शिथिल मधु-पवन, गिन-गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर !

पिक की मधुमय वंश बोली,
नाच उठी सुन अलिनी भोली;
अरुण सजल पाटल बरसाता,
तम पर मृदु पराग की रोली;

मृदुल अंक धर, दर्पण सा सर,
आँज रही निशि दृगइन्दीवर !

आँसू बन बन तारक आते,
सुमन हृदय में सेज बिछाते;
कम्पित वानीरों के वन भी
रह रह करुण विहाग सुनाते;

निद्रा उन्मन, कर कर विचरण,
लौट रही सपने संचित कर !

जीवन जल-कण से निर्मित सा,
चाह इन्द्रधनु से चित्रित सा;
सजल मेघ सा धूमिल है जग,
चिर नूतन सकरुण पुलकित सा;

तुम विद्युत् बन, आओ पाहुन !
मेरी पलकों में पग धर धर !

३०

तुम्हें बाँध पाती सपने में!

तो चिरजीवन-प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में!

पावस-घन सी उमड़ बिखरती,
शरद निशा सी नीरव घिरती,
धो लेती जग का विषाद
ढुलते लघु आँसू-कण अपने में!

मधुर राग बन विश्व सुलाती,
सौरभ बन कण कण बस जाती,
भरती मैं संसृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने में!

सबकी सीमा बन सागर सी,
हो असीम आलोक-लहर सी,
तारोंमय आकाश छिपा
रखती चंचल तारक अपने में!

शाप मुझे बन जाता वर सा,
पतझर मधु का मास अजर सा,
रचती कितने स्वर्ग एक
लघु प्राणों के स्पन्दन अपने में!

साँसें कहतीं अमर कहानी,
पल पल बनता अमिट निशानी,
प्रिय! मैं लेती बाँध मुक्ति
सौ सौ लघुतम बन्धन अपने में!

कौन तुम मेरे हृदय में ?

कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?

स्वर्णस्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?

अनुसरण निश्वास मेरे
कर रहे किसका निरन्तर ?
चूमने पदचिह्न किसके
लौटते यह श्वास फिर फिर ?
कौन बन्दी कर मुझे अब
बँध गया अपनी विजय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

एक करुण अभाव में चिर—
तृप्ति का संसार संचित ;
एक लघु क्षण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत शत;

पा लिया मैंने किसे इस
वेदना के मधुर क्रय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

गूँजता उर में न जाने
दूर के संगीत सा क्या !
आज खो निज को मुझे
खोया मिला, विपरीत सा क्या !

क्या नहा आई विरह-निशि
मिलन-मधुदिन के उदय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

तिमिरपारावार में
आलोकप्रतिमा है अकम्पित;
आज ज्वाला से बरसता
क्यों मधुर घनसार सुरभित ?

सुन रही हूँ एक ही
झंकार जीवन में प्रलय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

मूक सुख दुख कर रहे
मेरा नया शृंगार सा क्या ?
झूम गर्वित स्वर्ग देता—
नत धरा को प्यार सा क्या ?

आज पुलकित सृष्टि क्या
करने चली अभिसार लय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

३२
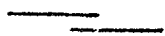
विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !

वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात !
जीवन विरह का जलजात !

आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल;
तरल जल-कण से बने घन सा क्षणिक मृदु गात !
जीवन विरह का जलजात !

अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास;
अश्रु ही की हाट बन आती करुण बरसात !
जीवन विरह का जलजात !

काल इसको दे गया पल-आँसुओं का हार;
पूछता इसकी कथा निश्वास ही में बात !
जीवन विरह का जलजात !

जो तुम्हारा हो सके लीलाकमल यह आज,
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात !
जीवन विरह का जलजात !

३२

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ !

नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;
प्रलय में मेरा पता पदचिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में;
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ;
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ;
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !

आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के;
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में;
नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ !

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी;
तार भी आघात भी झङ्कार की गति भी,
पात्र भी मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ !

३४

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल श्यामल कोमल कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश !

नभगङ्गा की रजतधार में
धो आई क्या इन्हें रात ?
कम्पित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा सा तन है सद्यस्नात !
भीगी अलकों के छोरों से
चूतीं बूँदें कर विविध लास !

सौरभभीना झीना गीला
लिपटा मृदु अञ्जन सा दुकूल ;
चल अञ्चल से झर झर झरते
पथ में जुगनू के स्वर्ण फूल;
दीपक से देता बार बार
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास !

उच्छ्वासित वक्ष पर चंचल है
बक-पाँतों का अरविन्द-हार;
तेरी निश्वासें छू भू को
बन बन जातीं मलयज बयार;
केकी-रव की नूपुर-ध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास !

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अङ्कों में भर विशाल;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल;
दुलरा दे ना बहला दे ना
यह तेरा शिशु जग है उदास !

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या !

तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति;

भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या !

तेरा मुख सहास अरुणोदय,
परछाईं रजनी विषादमय
यह जागृति वह नींद स्वप्नमय,

खेल खेल थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !

तेरा अधर विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मितमिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,

फिर पूछूँ क्यों मेरे साक़ी !
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

रोम रोम में नन्दन पुलकित,
साँस साँस में जीवन शत शत,
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित,

मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?

हारूँ तो खोऊँ अपनापन;
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन,
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन,

भर लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या ?

चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम,
मधुर राग तू मैं स्वरसंगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,

काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या !

३६

मधुर मधुर मेरे दीपक जल!
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर!

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा घुल रे मृदुतन!
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल!

पुलक पुलक मेरे दीपक जल!
सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला-कण;
विश्वशलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझमें मिल'!

सिहर सिहर मेरे दीपक जल!
जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक;
जलमय सागर का उर जलता;
विद्युत् ले घिरता है बादल!

विहँस विहँस मेरे दीपक जल!
द्रुम के अङ्ग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल

बिखर बिखर मेरे दीपक जल!

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अञ्चल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चञ्चल !

सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझमें भरती हूँ आँसू-जल !

सजल सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर;
तम के अणु अणु में विद्युत् सा—
अमिट चित्र अङ्कित करता चल !

सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय;
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !

मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

मेरे हँसते अधर नहीं जग—
की आँसू-लड़ियाँ देखो !
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो !

हँस देता नव इन्द्रधनुष की स्मित में घन मिटता मिटता;
रँग जाता है विश्व राग से निष्फल दिन ढलता ढलता;
कर जाता संसार सुरभिमय एक सुमन झरता झरता;
भर जाता आलोक तिमिर में लघु दीपक बुझता बुझता;
मिटने वालों की हे निष्ठुर !
बेसुध रँगरलियाँ देखो !

गल जाता लघु बीज असंख्यक नश्वर बीज बनाने को;
तजता पल्लव वृन्त पतन के हेतु नये विकसाने को;
मिटता लघु पल प्रिय देखो कितने युग कल्प मिटाने को;
भूल गया जग भूल विपुल भूलोंमय सृष्टि रचाने को;
मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय,
संसृति की कड़ियाँ देखो !

श्वासें कहतीं 'आता प्रिय' निश्वास बताते वह जाता;
आँखों ने समझा अनजाना उर कहता चिर यह नाता;
सुधि से सुन 'वह स्वप्न सजीला क्षण क्षण नूतन बन आता',
दुख उलझन में राह न पाता सुख दृगजल में बह जाता;
मुझमें हो तो आज तुम्हीं 'मैं'
बन दुख की घड़ियाँ देखो !

कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती !

दृगजल की सित मसि है अक्षय,
मसि-प्याली झरते तारक द्वय;
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर,
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर—

मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !

छायापथ में छाया से चल,
कितने आते जाते प्रति पल;
लगते उनके विभ्रम इंगित
क्षण में रहस्य क्षण में परिचित;

मिलता न दूत वह चिरपरिचित
जिसको उर का धन दे आती !

अज्ञातपुलिन से, उज्ज्वलतर,
किरणें प्रवाल तरणी में भर,
तम के नीलम-कूलों पर नित,
जो ले आती ऊषा सस्मित—

वह मेरी करुण कहानी में
मुसकानें अङ्कित कर जाती !

इकसठ

सज केसरपट तारक बेंदी,
दृग-अंजन मृदु पद में मेंहदी;
आती भर मदिरा से गगरी,
सन्ध्या अनुराग सुहाग भरी;

मेरे विषाद में वह अपने
मधुरस की बूँदें छलकाती!

डाले नव घन का अवगुण्ठन,
दृग-तारक में सकरुण चितवन,
पदध्वनि से सपने जाग्रत कर,
श्वासों से फैला मूक तिमिर,

निशि अभिसारों में आँसू से
मेरी मनुहारें धो जाती!

३६

टूट गया वह दर्पण निर्मम !

उसमें हँस दी मेरी छाया,
मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रुहास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँखमिचौनी
प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं' 'तुम' ।

अपने दो आकार बनाने,
दोनों का अभिसार दिखाने,
भूलों का संसार बसाने,
जो झिलमिल झिलमिल सा तुमने
हँस हँस दे डाला था निरुपम !

कैसा पतझर कैसा सावन,
कैसी मिलन विरह की उलझन,
कैसा पल घड़ियोंमय जीवन,
कैसे निशिदिन कैसे सुखदुख
आज विश्व में तुम हो या तम !

किसमें देख सँवारूँ कुन्तल,
अङ्गराग पुलकों का मल मल,
स्वप्नों से आँजूँ पलकें चल,
किस पर रीझूँ किससे रूठूँ
भर लूँ किस छबि से अन्तरतम ?

आज कहाँ मेरा अपनापन,
तेरे छिपने का अवगुण्ठन,
मेरा बन्धन तेरा साधन,
तुम मुझमें अपना सुख देखो
मैं तुममें अपना दुख प्रियतम !

कमलदल पर किरण अंकित
चित्र हूँ मैं क्या चितेरे!
बादलों की प्यालियाँ भर चाँदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्रधनु तुमने रँगा उर प्यार से;
काल के लघु अश्रु से
धुल जायँगे क्या रंग मेरे!

तडित् सुधि में, वेदना में करुण पावस-रात भी,
आँक स्वप्नों में दिया तुमने वसन्त-प्रभात भी;
क्या शिरीष-प्रसून से
कुम्हलायँगे यह साज मेरे!

है युगों का मूक परिचय देश से इस राह से;
हो गई सुरभित यहाँ की रेणु मेरी चाह से;
नाश के निश्वास से
मिट पायँगे क्या चिह्न मेर!

नाच उठते निमिष पल मेरे चरण की चाप से;
नाप ली निःसीमता मैंने दृगों के माप से;
मृत्यु के उर में समा क्या
पायँगे अब प्राण मेरे!

आँक दी जग के हृदय में अमिट मेरी प्यास क्यों?
अश्रुमय अवसाद क्यों यह पुलक-कम्पन-लास क्यों?
मैं मिटूँगी क्या अमर
हो जायँगे उपहार मेरे!

नोंलठ

४१

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं ?

विद्युत् के चल स्वर्णपाश में बँध हँस देता रोता जलधर;
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर;
दिन निशि को, देती निशि दिन को
कनक-रजत के मधु-प्याले हैं !

मोती बिखरातीं नूपुर के छिप तारक-परियाँ नर्तन कर;
हिमकण पर आता जाता मलयानिल परिमल से अञ्जलि भर;
भ्रान्त पथिक से फिर फिर आते
विस्मित पल क्षण मतवाले हैं !

सघन वेदना के तम में सुधि जाती सुख सोने के कण भर;
सुरधनु नव रचतीं निश्वासें स्मित का इन भीगे अधरों पर;
आज आँसुओं के कोषों पर।
स्वप्न बने पहरेवाले हैं !

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रहे कैसी उलझन !
रोम रोम में होता री सखि एक नया उर का सा स्पन्दन !
पुलकों से भर फूल बन गये।
जितने प्राणों के छाले हैं !

झरते नित लोचन मेरे हों!

जलती जो युग युग से उज्ज्वल,
आभा से रच रच मुक्ताहल,
वह तारक-माला उनकी,
चल विद्युत् के कङ्कण मेरे हों!

ले ले तरल रजत औ, कञ्चन,
निशिदिन ने लीपा जो आँगन,
वह सुषमामय नभ उनका,
पल पल मिटते नव घन मेरे हों!

पद्मराग-कलियों से विकसित,
नीलम के अलियों से मुखरित,
चिर सुरभित नन्दन उनका,
यह अश्रु-भार-नत तृण मेरे हों!

तम सा नीरव नभ सा विस्तृत,
हास रुदन से दूर अपरिचित,
वह सूनापन हो उनका,
यह सुखदुखमय स्पन्दन मेरे हों!

जिसमें कसक न सुधि का दंशन,
प्रिय में मिट जाने के साधन,
वे निर्वाण—मुक्ति उनके,
जीवन के शत बन्धन मेरे हों!

बुद्बुद् में आवर्त्त अपरिमित,
कण में शत जीवन परिवर्तित,

हों चिर सृष्टि प्रलय उनके,
बनने मिटने के क्षण मेरे हों !

सस्मित पुलकित नित परिमलमय,
इन्द्रधनुष सा नवरङ्गोंमय,

अग जग उनका कण कण उनका,
पलभर वे निर्मम मेरे हों !

प्राणपिक प्रिय-नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में,
वह गया बँध लघु हृदय में;
अब विरह की रात को तू
चिर मिलन का प्रात रे कह !

दुखअतिथि का धो चरणतल,
विश्व रसमय कर रहा जल;
यह नहीं क्रन्दन हठीले !
सजल पावस मास रे कह !

ले गया जिसको लुभा दिन,
लौटती वह स्वप्न बन बन;
है न मेरी नींद जागृति
का इसे उत्पात रे कह !

एक प्रिय-दृग-श्यामता सा,
दूसरा स्मित की विभा सा,
यह नहीं निशिदिन इन्हें
प्रिय का मधुर उपहार रे कह !

श्वास से स्पन्दन रहे झर,
लोचनों से रिस रहा उर;
दान क्या प्रिय ने दिया
निर्वाण का वरदान रे कह !

चल क्षणों का क्षणिक संचय,
बालुका से बिन्दु-परिचय,
कह न जीवन तू इसे
प्रिय का निठुर उपहास रे कह !

४४

लाये कौन संदेश नये घन !

अम्बर गर्वित,
हो आया नत,
चिर निस्पन्द हृदय में उसके उमड़े री पुलकों के सावन !

चौंकी निद्रित,
रजनी अलसित,
श्यामल पुलकित कम्पित कर में दमक उठे विद्युत् के कंकण !

दिशि का चञ्चल,
परिमल - अञ्चल,
छिन्नहार से बिखर पड़े सखि ! जुगुनू के लघु हीरक के कण !

जड़ जग स्पन्दित,
निश्चल कम्पित,
फूट पड़े अवनी के संचित सपने मृदुतम अंकुर बन बन !

रोया चातक,
सकुचाया पिक,
मत्त मयूरों ने सूने में झड़ियों का दुहराया नर्तन !

सुख दुख से भर,
आया लघु उर,
मोती से उजले जलकण से छाये मेरे विस्मित लोचन !

४३

प्राणपिक प्रिय-नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में,
वह गया बँध लघु हृदय में;
अब विरह की रात को तू
चिर मिलन का प्रात रे कह !

दुखअतिथि का धो चरणतल,
विश्व रसमय कर रहा जल;
यह नहीं क्रन्दन हठीले !
सजल पावस मास रे कह !

ले गया जिसको लुभा दिन,
लौटती वह स्वप्न बन बन;
है न मेरी नींद जागृति
का इसे उत्पात रे कह !

एक प्रिय-दृग-श्यामता सा,
दूसरा स्मित की विभा सा,
यह नहीं निशिदिन इन्हें
प्रिय का मधुर उपहार रे कह !

श्वास से स्पन्दन रहे झर,
लोचनों से रिस रहा उर;
दान क्या प्रिय ने दिया
निर्वाण का वरदान रे कह !

चल क्षणों का क्षणिक संचय,
बालुका से बिन्दु-परिचय,
कह न जीवन तू इसे
प्रिय का निठुर उपहास रे कह !

४

लाये कौन संदेश नये घन !

अम्बर गर्वित,
हो आया नत,
चिर निस्पन्द हृदय में उसके उमड़े री पुलकों के सावन !

चौंकी निद्रित,
रजनी अलसित,
श्यामल पुलकित कम्पित कर में दमक उठे विद्युत् के कंकण !

दिशि का चञ्चल,
परिमल - अञ्चल,
छिन्नहार से बिखर पड़े सखि ! जुगुनू के लघु हीरक के कण !

जड़ जग स्पन्दित,
निश्चल कम्पित,
पृ ड़े अवनी के संचित सपने मृदुतम अंकुर बन बन !

रोया चातक,
सकुचाया पिक,
मत्त मयूरों ने सूने में झड़ियों का दुहराया नर्तन !

सुख दुख से भर,
आया लघु उर,
मोती से उजले जलकण से छाये मेरे विस्मित लोचन !

तुम सो जाओ मैं गाऊँ!

मुझको सोते युग बीते
तुमको यों लोरी गाते;
अब आओ मैं पलकों में स्वप्नों से सेज बिछाऊँ!

प्रिय! तेरे नभमन्दिर के
मणि-दीपक बुझ-बुझ जाते;
जिनका कण कण विद्युत् है मैं ऐसे प्राण जलाऊँ।

क्यों जीवन के शूलों में
प्रतिक्षण आते जाते हो?
ठहरो सुकुमार! गलाकर मोती पथ में फैलाऊँ!

पथ की रज में हैं अंकित
तेरे पदचिह्न अपरिचित;
मैं क्यों न इसे अञ्जन कर आँखों में आज बसाऊँ।

जल सौरभ फैलाता उर
तव स्मृति जलती है तेरी;
लोचन कर पानी पानी मैं क्यों न उसे सिंचवाऊँ!

इन फूलों में मिल जातीं
कलियाँ तेरी माला की;
मैं क्यों न इन्हीं काँटों का संचय जग को दे जाऊँ।

अपनी असीमता देखो
लघु दर्पण में पल भर तुम;
मैं क्यों न यहाँ क्षण क्षण को धो धो कर मुकुर बनाऊँ।

हँसने में छू जाते तुम
रोने में यह सुधि आती;
मैं क्यों न जगा अणु अणु को हँसना रोना सिखलाऊँ!

तुम दुख बन इस पथ से आना !
शूलों में नित मृदु पाटल सा,
खिलने देना मेरा जीवन;
क्या हार बनेगा वह जिसने सीखा न हृदय को बिंधवाना !
वह सौरभ हूँ मैं जो उड़कर,
कलिका में लौट नहीं पाता;
पर कलिका के नाते ही प्रिय जिसको जग ने सौरभ जाना !
नित जलता रहने दो तिल तिल,
अपनी ज्वाला में उर मेरा;
इसकी विभूति में फिर आकर अपने पद-चिह्न बना जाना !
वर देते हो तो कर दो ना,
चिर आँखमिचौनी यह अपनी;
जीवन में खोज तुम्हारी है मिटना ही तुमको छू पाना !
प्रिय ! तेरे उर में जग जावे,
प्रतिध्वनि जब मेरे पी पी की,
उसको जग समझे बादल में विद्युत् का बन बन मिट जाना !
तुम चुपके से आ बस जाओ,
सुख दुख सपनों में श्वासों में;
पर मन कह देगा यह वे हैं आँखें कह देंगी पहचाना !
जड़ जग के अणुओं में स्मित से,
तुमने प्रिय जब डाला जीवन,
मेरी आँखों ने सींच उन्हें सिखलाया हँसना खिल जाना !
कुहरा जैसे घन आतप में,
यह संसृति मुझमें लय होगी;
अपने रागों से लघु वीणा मेरी मत आज जगा जाना !

४७

जाग बेसुध जाग !

अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक-हार,
भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रतिद्वार,
शूल जिसने फूल छू चन्दन किया सन्ताप,
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद-चाप;
करुणा के दुलारे जाग !

शङ्ख में ले नाश मुरली में छिपा वरदान,
दृष्टि में जीवन अधर में सृष्टि ले छविमान,
आ रचा जिसने स्वरों में प्यार का संसार,
गूँजती प्रतिध्वनि उसी की फिर क्षितिज के पार;
वृन्दाविपिनवाले जाग !

* * *

रात के पथहीन तम में मधुर जिसके श्वास,
फैले भरते लघु कणों में भी असीम सुवास,
कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग ! हँस उठ उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजनि प्यारे जाग !

प्रिय ! सान्ध्य गगन,
मेरा जीवन !

यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधिभीने स्वप्न रँगीले घन !

साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन,
सन्ध्या का नभ से मूक मिलन—
यह अश्रुमती हँसती चितवन !

लाता भर श्वासों का समीर,
जग से स्मृतियों का गन्ध धीर,
सुरभित हैं जीवन-मृत्यु-तीर,
रोमों में पुलकित कैरव-वन !

अब आदि-अन्त दोनों मिलते,
रजनी-दिन-परिणय से खिलते,
आँसू मिस हिम के कण ढुलते,
ध्रुव आज बना स्मृति का चल क्षण !

इच्छाओं के सोने से शर,
किरणों से द्रुत झीने सुन्दर,
सूने असीम नभ में चुभकर—
बन बन आते नक्षत्र-सुमन !

घर लौट चले सुख-दुःख-विहग,
तम पोंछ रहा मेरा अग जग,
छिप आज चला वह चित्रित मग,
उतरो अब पलकों में पाहुन !

५०

रागभीनी तू सजनि निश्वास भी तेरे रँगीले !

लोचनों में क्या मदिर नव ?
देख जिसको नीड़ की सुधि फूट निकली बन मधुर रव !
झूलते चितवन गुलाबी—
मे चले घर खग हठीले !

छोड़ किस पाताल का पुर ?
राग से बेसुध चपल सपने लजीले नयन में भर,
रात नभ के फूल लाई,
आँसुओं से कर सजीले !

आज इन तन्द्रिल पलों में !
उलझती अलकें सुनहली असित निशि के कुन्तलों में !
सजनि नीलम-रज भरे
रँग चूनरी के अरुण पीले !

रेख सी लघु तिमिर-लहरी,
चरण छू तेरे हुई है सिन्धु सीमाहीन गहरी !
गीत तेरे पार जाते
बादलों की मृदु तरी ले !

कौन छायालोक की स्मृति,
कर रही रंगीन प्रिय के द्रुत पदों की अंक-संसृति ?
सिहरती पलकें किये—
देतीं विहँसते अधर गीले !

५१

शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी!

अर्चना हों शूल भोले,
क्षार दृग-जल अर्घ्य हो ले,
आज करुणा-स्नात उजला
दुःख हो मेरा पुजारी!

नूपुरों का मूक छूना,
सरव कर दे विश्व सूना,
यह अगम आकाश उतरे
कम्पनों का हो भिखारी!

लोल तारक भी अचञ्चल,
चल न मेरा एक कुन्तल,
अचल रोमों में समाई
मुग्ध हो गति आज सारी!

राग मद की दूर लाली,
साध भी इसमें न पाली,
शून्य चितवन में बसेगी
मूक हो गाथा तुम्हारी!

५२

अश्रु मेरे माँगने जब
नींद में वह पास आया!
स्वप्न सा हँस पास आया!
हो गया दिव की हँसी से
शून्य में सुरचाप अंकित;
रश्मि-रोमों में हुआ
निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित;

अनुसरण करता अमा का
चाँदनी का हास आया!
वेदना का अग्निकण जब
मोम से उर में गया बस,
मृत्यु-अञ्जलि में दिया भर
विश्व ने जीवन सुधा-रस!

माँगने पतझार से
हिम-बिन्दु तब मधुमास आया!
अमर सुरभित साँस देकर
मिट गये कोमल कुसुम झर;
रविकरों में जल हुए फिर;
जलद में साकार सीकर;

अंक में तब नाश को
लेने अनन्त विकास आया!

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं !

शशि के दर्पण में देख देख,
मैंने सुलझाये तिमिर-केश;
गूँथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष;

क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं ?

स्मित से कर फीके अधर अरुण,
गति के जावक से चरण लाल,
स्वप्नों से गीली पलक आँज,
सीमन्त सजा ली अश्रु-माल;

स्पन्दन मिस प्रतिपल भेज रही
क्या युग युग से मनुहार नहीं ?

मैं आज चुपा आई चातक,
मैं आज सुला आई कोकिल;
कण्टकित मौलश्री हरसिंगार,
रोके हैं अपने श्वास शिथिल !

सोया समीर नीरव जग पर
स्मृतियों का भी मृदु भार नहीं !

रूँधे हैं सिहरा सा दिगन्त,
सित पाटलदल से मृदु बादल;
उस पार रुका आलोक-यान,
इस पार प्राण का कोलाहल!

बेसुध निद्रा है आज बुने—
जाते श्वासों के तार नहीं!

दिनरात-पथिक थक गए लौट,
फिर गए मना कर निमिष हार;
पाथेय मुझे सुधि मधुर एक,
है विरह-पंथ सूना अपार!

फिर कौन कह रहा है सूना
अब तक मेरा अभिसार नहीं?

क्यों मुझे प्रिय हों न बन्धन!

बन गया तम-सिन्धु का आलोक सतरंगी पुलिन सा;
रजभरे जगबाल से है अंक विद्युत् का मलिन सा;
स्मृति पटल पर कर रहा अब
वह स्वयं निज रूप-अंकन!

चाँदनी मेरी अमा का, भेंटकर अभिषेक करती;
मृत्यु-जीवन के पुलिन दो आज जागृति एक करती;
हो गया अब दूत प्रिय का
प्राण का सन्देश, स्पन्दन!

सजनि मैंने स्वर्णपिंजर में प्रलय का वात पाला;
आज पुंजीभूत तम को कर बना डाला उजाला;
तूल से उर में समा कर
हो रही नित ज्वाल चन्दन!

आज विस्मृति-पंथ में निधि से मिले पदचिह्न उनके;
वेदना लौटा रही है विफल खोये स्वप्न गिनके;
धुल हुई इन लोचनों में
चिर प्रतीक्षा पूत अञ्जन!

आज मेरा [illegible] बना लेंगे बसेरा;
रह गया [illegible] प्रभु से [illegible] है चिरन्तन प्यार मेरा;
बन गए [illegible] युगों की
[illegible] मेरे श्वास स्पन्दन!

बीन-बन्दी तार की झङ्कार है आकाशचारी;
धूलि के इस मलिन दीपक से बँधा है तिमिरहारी;

बाँधती निर्बन्ध को मैं
बन्दिनी निज बेड़ियाँ गिन !

नित सुनहली साँझ के पद से लिपट आता अँधेरा;
पुलक पंखी विरह पर उड़ आ रहा है मिलन मेरा;

कौन जाने है बसा उस पार
तम या रागमय दिन !

|||

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु-बयार!

रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगन्धा का पराग,

यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कबरी सँवार!

पाटल के सुरभित रङ्गों से रँग दे हिम सा उज्ज्वल दुकूल,
गुथ दे रशना में अलि-गुञ्जन से पूरित झरते बकुल-फूल,

रजनी से अञ्जन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार!

तारक-लोचन से सींच सींच नभ करता रज को विरज आज,
बरसाता पथ में हरसिंगार केशर से चर्चित सुमन-लाज,

कण्टकित रसालों पर उठता—
है पागल पिक मुझको पुकार!
लहराती आती मधु-बयार!

५६

प्रिय-पथ के यह शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं !

हीरक सी वह याद
बनेगा जीवन सोना,
जल जल तप तप किन्तु
खरा इसको है होना !

चल ज्वाला के देश जहाँ अङ्गारे ही हैं !

तम-तमाल ने फूल
गिरा दिन-पलकें खोलीं,
मैंने दुख में प्रथम
तभी सुख-मिश्री घोली !

ठहरें पलभर देव अश्रु यह खारे ही हैं !

ओढ़े मेरी छाँह
रात देती उजियाला,
रजकण मृदु पद चूम
हुए मुकुलों की माला !

मेरा चिर इतिहास चमकते तारे ही हैं

आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा !

खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं

५७

मेरी है पहेली बात !

रात के झीने सिताञ्चल-
से बिखर मोती बने जल,
स्वप्न पलकों में विकर झर
प्रात होते अश्रु केवल !

—सजनि मैं उतनी करुण हूँ, करुण जितनी रात !

मुस्करा कर राग मधुमय
वह लुटाता पी तिमिर विष,
आँसुओं का क्षार पी मैं
बाँटती नित स्नेह का रस !

—सुभग मैं उतनी मधुर हूँ, मधुर जितना प्रात !

ताप-जर्जर विश्व उर पर—
तूल से घन आ गये भर;
दुःख से तप हो मृदुलतर
उमड़ता करुणा भरा उर !

—सजनि मैं उतनी सजल, जितनी सजल बरसात !

मेरा सजल मुख देख लेते !
यह करुण मुख देख लेते !

सेतु शूलों का बना बाँधा विरह-वारीश का जल;
फूल की पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल;

दुःखमय सुख,
सुखभरा दुख,
कौन लेता पूछ जो तुम
ज्वाल-जल का देश देते ?

नयन की नीलम-तुला पर मोतियों से प्यार तोला;
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला !

भ्रान्तिमय कण,
श्रान्तिमय त्तण,
थे मुझे वरदान जो तुम
माँग ममता शेष लेते !

पद चले जीवन चला पलकें चलीं स्पन्दन रही चल,
किन्तु चलता जा रहा मेरा क्षितिज भी दूर धूमिल !

अङ्ग अलसित,
प्राण विजड़ित,
मानती जय जो तुम्हीं
हँस हार आज अनेक देते !

घुल गई इन आँसुओं में देव जाने कौन हाला;
झूमता है विश्व पी पी घूमती नक्षत्र-माला !

साध है तुम,
बन सघन तम,
सुरँग अवगुण्ठन उठा
गिन आँसुओं की रेख लेते!

शिथिल चरणों के थकित इन नूपुरों की करुण रुनझुन
विरह का इतिहास कहती जो कभी पाते सुभग सुन,

चपल पग धर,
आ अचलउर!
वार देते मुक्ति, खो
निर्वाण का सन्देश देते!

विरह की घड़ियाँ हुईं अलि मधुर मधु की यामिनी सी !
दूर के नक्षत्र लगते पुतलियों से पास प्रियतर;
शून्य नभ की मूकता में गूँजता आह्वान का स्वर;
आज है निःसीमता
लघु प्राण की अनुगामिनी सी !

एक स्पन्दन कह रहा है अकथ युग युग की कहानी;
हो गया स्मित से मधुर इन लोचनों का क्षार पानी;
मूक प्रति निश्वास है
नव स्वप्न की अनुरागिनी सी !

सजनि ! अन्तर्हित हुआ है 'आज' में धुँधला विफल 'कल';
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल,
राह मेरी देखती
स्मृति अब निराश पुजारिनी सी !

फैलते हैं सांध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले;
तिमिर की दीपावली हैं रोम मेरे पुलक गीले;
बन्दिनी बनकर हुई
मैं बन्धनों की स्वामिनी सी !

शलभ मैं शापमय वर हूँ ! किसी का दीप निष्ठुर हूँ !

ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृङ्गार-माला;
ज्वाल अक्षय कोष सी
अंगार मेरी रङ्गशाला;

नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ !

नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी;
प्राण में कैसे बसाऊँ
कठिन अग्नि समाधि होगी !

फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ !

हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल;

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ !

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने;
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने;

रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ !

शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा;
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा;

मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ !

झूसी

मैं नीर भरी दुख की बदली ।

स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली!

मेरा पग पग संगीत भरा,
स्वासों से स्वप्न पराग झरा,
नभ के नवरँग बुनते दुकूल
छाया में मलय-बयार पली !

मैं क्षितिज-भ्रुकुटि पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नवजीवन-अंकुर बन निकली ।

पथ को न मलिन करता आना,
पदचिह्न न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग
सुख की सिरहन हो अंत खिली

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली ।

६२

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना!
जाग तुझको दूर जाना!

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले;
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत्-शिखाओं में निठुर तूफ़ान बोले!
पर तुझे है नाशपथ पर चिह्न अपने छोड़ आना!

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले?
पंथ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रँगीले?
विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,
क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस-गीले?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना!

वज्र का उर एक छोटे अश्रुकण में धो गलाया,
दे किसे जीवन-सुधा दो घूँट मदिरा माँग लाया?
सो गई आँधी मलय की वात का उपधान ले क्या?
विश्व का अभिशाप क्या चिर नींद बनकर पास आया?
अमरता-सुत चाहता क्यों मृत्यु को उर में बसाना?

कह न ठंडी साँस में अब भूल वह जलती कहानी,
आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी;
हार भी तेरी बनेगी मानिनी जय की पताका!
राख क्षणिक् पतंग की है अमर दीपक की निशानी!
है तुझे अंगार-शय्या पर मृदुल कलियाँ बिछाना!

कीर का प्रिय आज पिञ्जर खोल दो !

हो उठी हैं चञ्चु छूकर,
तीलियाँ भी वेणु सस्वर;
बन्दिनी स्पन्दित व्यथा ले,
सिहरता जड़ मौन पिञ्जर !

आज जड़ता में इसी की बोल दो !

जग पड़ा छू अश्रु-धारा,
हत परों का विभव सारा;
अब अलस बन्दी युगों का—
ले उड़ेगा शिथिल कारा !

पङ्ख पर वे सजल सपने तोल दो !

क्या तिमिर कैसी निशा है !
आज विदिशा ही दिशा है;
दूर-खग आ निकटता के—
अमर बन्धन में बसा है !

प्रलय-घन में आज राका घोल दो !

चपल पारद सा विकल तन,
सजल नीरद सा भरा मन,
नाप नीलाकाश ले जो—
बेड़ियों का माप यह बन,

एक किरण अनन्त दिन की मोल दो !

६४

प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं !

श्वास में मुझको छिपाकर वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया उसकी सजीली साध सा बन,
छिप कहाँ उसमें सकी
बुझ बुझ जली चल दामिनी मैं !

छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर,
धूलि में निज अश्रु बोने में पहर सूने बिताकर,
प्रात में हँस छिप गई
ले छलकते दृग यामिनी मैं !

मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुण्ठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं !

दीप सी युग युग जलूँ पर वह सुभग इतना बता दे,
फूँक से उसकी बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे !
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं !

सजल सीमित पुतलियाँ पर चित्र अमिट असीम का वह,
चाह एक अनन्त बसती प्राण किन्तु ससीम सा यह,
रजकणों में खेलती किस
विरज विधु की चाँदनी मैं ?

६५

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !
किसको त्यागूँ किसको माँगूँ,
है एक मुझे मधुमय विषमय;
मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय !
पालूँ जग का अभिशाप कहाँ
प्रतिरोमों में पुलकें लहरीं !
जिसको पथ-शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर;
प्रिय के सन्देशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेटूँगी भुजभर;
मेरी लघु पलकों से छलकी
इस कण कण में ममता बिखरी !
अरुणा ने यह सीमन्त भरी,
सन्ध्या ने दी पद में लाली;
मेरे अंगों का आलेपन—
करती राका रच दीवाली !
जग के दागों को धो धो कर
होती मेरी छाया गहरी !
पद के निक्षेपों से रज में—
नभ का वह छायापथ उतरा
श्वासों से घिर आती बदली
चितवन करती पतझार हरा !
जब मैं मरु में भरने लाती
दुख से, रीती जीवर-गगरी !

सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है !

नियति बन कुशली चितेरा—
रँग गई सुखदुख रँगों से
मृदुल जीवन पात्र मेरा !

स्नेह की देती सुधा भर अश्रु खारे माँगता है !

धूपछाँहीं विरह-वेला,
विश्व-कोलाहल बना वह
ढूँढ़ती जिसको अकेला;

छाँह दृग पहचानते पदचाप यह उर जानता है !

रङ्गमय है देव दूरी !
छू तुम्हें रह जायगी यह
चित्रमय क्रीड़ा अधूरी !

दूर रह कर खेलना पर मन न मेरा मानता है !

वह सुनहला हास तेरा—
अंकभर घनसार सा
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा !

मूँद पलकें रात करती जब हृदय हठ ठानता है !

मेघ-रूँधा अजिर गीला,
टूटता हा इन्दु-कन्दुक
रवि झुलसता लोल पीला !

यह खिलौने और यह उर! प्रिय नई असमानता है !

९७

हे चिर महान् !
यह स्वर्णरश्मि छू श्वेत भाल,
बरसा जाती रङ्गीन हास;
सेली बनता है इन्द्रधनुष,
परिमल मल मल जाता बतास !

पर रागहीन तू हिमनिधान !

नभ में गर्वित झुकता न शीश,
पर अंक लिए है दीन क्षार;
मन गल जाता नत विश्व देख,
तन सह लेता है कुलिश-भार !

कितने मृदु कितने कठिन प्राण !

टूटी है कब तेरी समाधि,
झञ्झा लौटे शत हार हार;
बह चला दृगों से किन्तु नीर
सुनकर जलते कण की पुकार !

सुख से विरक्त दुख में समान !

मेरे जीवन का आज मूक,
तेरी छाया से हो मिलाप;
तन तेरी साधकता छू ले,
मन ले करुणा की थाह नाप !
उर में पावस दृग में विहान !

मैं सजग चिर साधना ले।

सजग प्रहरी से निरन्तर,
जागते अलि रोम निर्भर;
निमिष के बुद्बुद् मिटाकर,
एक रस है समय-सागर!

हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले।

मूँद पलकों में अचञ्चल,
नयन का जादू भरा तिल,
दे रही हूँ अलख अविकल—
को सजीला रूप तिल तिल!

आज वर दो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले।

विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा;
दुःखसुख में कौन तीखा,
मैं न जानी औ' न सीखा!

मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले!

अलि मैं कण कण को जान चली !
सबका क्रन्दन पहचान चली !

कुछ दृग में हीरक-जल भरते,
कुछ चितवन इन्द्रधनुष करते,
टूटे सपनों के मनकों से
कुछ सूखे अधरों पर झरते !

जिस मुक्ताहल से मेघ भरे,
जो तारों से तृण में उतरे,
मैं नभ के रज के रसविष के
आँसू के सब रँग जान चली !
दुख को कर सुख-आख्यान चली !

जिसका मीठा तीखा दंशन,
अंगों में भरता सुखसिहरन,
जो पग में चुभ कर कर देता
जर्जर मानस चिर आहत मन !

जो मृदु फूलों के स्पन्दन से,
जो पैना एकाकीपन से,
मैं उपवन-निर्जन-पथ के हर
कण्टक का मृदु मन जान चली !
गति का दे चिर वरदान चली !

जो जल में विद्युत्-प्यास भरा,
जो आतप में जल जल निखरा,

जो झरते फूलों पर देता
नित चन्दन सी ममता बिखरा!

जो आँसू से धुल धुल उजला,
जो निष्ठुर चरणों का कुचला,
मैं मरु-उर्वर के कसक भरे

अणु अणु का कम्पन जान चली!
प्रति पग को कर लयवान चली!

नभ मेरा सपना स्वर्ण-रजत,
जग संगी अपना चिर परिचित,

यह शूल फूल का चिर नूतन
पथ मेरी साधों से निर्मित!

इन आँखों के रस से गीली,
रज भी है दिव से गर्वीली!
मैं सुख से चंचल दुखबोझिल

क्षण क्षण का जीवन जान चली!
मिटने को कर निर्माण चली!

मोम सा तन धुल चुका अब दीप सा मन जल चुका है !

विरह के रंगीन क्षण ले,
अश्रु के कुछ शेष कण ले,

बरुनियों में उलझ बिखरे स्वप्न के फीके सुमन ले

खोजने फिर शिथिलपग
निश्वास-दूत निकल चुका है !

चल पलक हैं निर्निमेषी,
कल्प पल सब तिमिरवेषी,

आज स्पन्दन भी हुई उर के लिए अज्ञातदेशी !

चेतना का स्वर्ण जलती
वेदना में गल चुका है !

झर चुके तारक-कुसुम जब,
रश्मियों के रजत पल्लव,

सन्धि में आलोक-तम की क्या नहीं नभ जानता तब,

पार से अज्ञात वासन्ती—
दिवस-रथ चल चुका है !

खोल कर जो दीप के दृग,
कह गया 'तम में बढ़ा पग',

देख श्रम-धूमिल उसे करते निशा की साँस जगमग,

क्या न आ कहता वही
'सो याम अन्तिम ढल चुका है' ?

अन्तहीन विभावरी है,
पास अङ्गारक-तरी है,
तिमिर की तटिनी क्षितिज की कूल-रेख डुबा भरी है।
शिथिल कर से सुभग
सुधि-पतवार आज विछल चुका है।

अब कहो संदेश है क्या?
और ज्वाल विशेष है क्या?
अग्निपथ के पार चन्दन-चाँदनी का देश है क्या?
एक इंगित के लिए
शतवार प्राण मचल चुका है!

७१

पथ मेरा निर्वाण बन गया !
प्रति पग शत वरदान बन गया !

आज थके चरणों ने सूने तम में विद्युत् लोक बसाया;
बरसाती है रेणु चाँदनी की यह मेरी धूमिल छाया;
प्रलय-मेघ भी गले मोतियों—
का हिमतरल उफान बन गया !

अञ्जनवदना चकित दिशाओं ने चित्रित अवगुण्ठन डाले;
रजनी ने मरकतवीणा पर हँस किरणों के तार सँभाले;
मेरे स्पन्दन से झञ्झा का
हरहर लय-सन्धान बन गया !

पारद सी गल हुईं शिलायें नभ चन्दनचर्चित आँगन सा;
अंगराग घनसार हुई रज आतप सौरभ-आलेपन सा;
शूलों का विष कलियों के
गीले मधुपर्क समान बन गया !

मिट मिट कर हर साँस लिख रही शतशत मिलनविरह का लेखा;
निज को खोकर निमिष आँकते अनदेखे चरणों की रेखा;
पल भर का वह स्वप्न तुम्हारी
युग युग की पहचान बन गया !

देते हो तुम फेर हास मेरा निज करुणा-जल-कण से भर;
लौटाते हो अश्रु मुझे तुम अपनी स्मित से रंगोमय कर;
आज मरण का दूत तुम्हें छू
रा पाहुन प्राण बन गया !

हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन !

अगरुधूम सी साँस सुधिगन्धसुरभित,
बनी स्नेह-लौ आरती चिर अकम्पित,
हुआ नयन का नीर अभिषेक-जलकण !

सुनहले सजीले रंगीले धबीले,
हसित कण्टकित अश्रु-मकरन्द गीले,
बिखरते रहे स्वप्न के फूल अनगिन !

असितश्वेत गन्धर्व जो सृष्टि-लय के
दृगों को पुरातन अपरिचित हृदय के,
सजग यह पुजारी मिले रात औ' दिन !

परिधिहीन रंगोंभरा व्योम-मन्दिर,
चरण-पीठ भू का व्यथासिक्त मृदु उर,
ध्वनित सिन्धु में है रजत शंख का स्वन

कहो मत प्रलय द्वार पर रोक लेगा,
वरद मैं मुझे कौन वरदान देगा ?
बना कब सुरभि के लिए फूल

व्यथाप्राण हूँ नित्य सुख का पता मैं,
धुला ज्वाल में मोम का देवता मैं,
सृजन-श्वास हो क्यों गिनूँ नाश के

७३

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो !

रजत शंख-घड़ियाल स्वर्ण वंशी-वीणा-स्वर,
गए आरती-वेला को शत शत लय से भर,
जब था कल कंठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला !
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो !

चरणों से चिन्हित अलिन्द की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अंक लिए चन्दन की दहली;
झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित;
तम में सब होंगे अन्तर्हित
सबकी अर्चितकथा इसी लौ में पलने दो !

पल के मनके फेर पुजारी विश्व सो गया,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया;
साँसों की समाधि सा जीवन,
मसि-सागर सा पंथ गया बन,
रुका मुखर कण कण का स्पन्दन,
इस ज्वाला में प्राण-रूप फिर से ढलने दो !

झञ्झा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो !

पूछता क्यों शेष कितनी रात ?

अमर सम्पुट में ढला तू,

छू नखों की कान्ति चिर

संकेत पर जिनके जला तू,

स्निग्ध सुधि जिनकी लिए कज्जल-दिशा में धँस चला तू

परिधि बन घेरे तुझे वे उँगलियाँ अवदात !

झर गए खद्योत सारे,

तिमिर-वात्याचक्र में

सब पिस गए अनमोल तारे,

बुझ गई पवि के हृदय में काँप कर विद्युत्-शिखा रे !

साथ तेरा चाहती एकाकिनी बरसात !

व्यंगमय है क्षितिज-घेरा,

प्रश्नमय हर कण निठुर सा

पूछता परिचय, बसेरा;

आज हो उत्तर सभी का ज्वालवाही श्वास तेरा

छीजता है इधर तू उस ओर बढ़ता प्रात !

प्रणत लौ की आरती ले,

धूमलेखा स्वर्ण-अक्षत

नील-कुमकुम वारती ले,

मूक प्राणों में व्यथा की स्नेह-उज्ज्वल भारती ले,

मिल अरे बढ़ आ रहे यदि प्रलय झंझावात !

कौन भय की बात ?